निवेदन

प्रत्येक मनुष्य के लिये इस बात की आवश्यकता है कि जिस देश में वह रहता हो, उसके विषय में वह पूरा पूरा ज्ञान प्राप्त कर ले। उस देश की प्राकृतिक अवस्था कैसी है, वहां का जलवायु कैसा है, कौन कौन वनस्पति वहां उत्पन्न होती है, कौन कौन से जंतु वहां पाए जाते हैं, किस किस जाति के लोग और किस किस धर्म के अनुयायी वहां निवास करते हैं, कौन कौन भाषाएँ वहां बोली जाती हैं ० उस देश की ऐतिहासिक अवस्था कैसी है, प्राचीन काल में वहां किन लोगों का राज्य था, उनके समय में देश की कैसी अवस्था थी, वर्तमान में किन लोगों का राज्य है, उनकी शासनप्रणाली कैसी है, तथा उस देश की आर्थिक दशा कैसी है, वहां शिल्प कला कौशल और वाणिज्य व्यापार की क्या स्थिति है, कौन कौन वस्तुएँ वहां उत्पन्न होती हैं, व्यापार के कौन कौन से साधन हैं, किन किन मार्गों से लोग आते जाते हैं, इत्यादि ये सब बातें उसे मालूम होनी चाहिएं। प्रत्येक देशमें वहां की देशभाषा में ऐसी ऐसी पुस्तकें विद्यमान हैं जिनमें इन सब विषयों का वर्णन होता है, परंतु दुःख की बात है कि हिंदुस्तान में हिंदुस्तान के विषय में हिंदी भाषा में एक भी ऐसी पुस्तक नहीं है। इस पुस्तक से आशा है यह त्रुटि किसी न किसी अंश में दूर हो जाय।

इस पुस्तक के दो खंड होंगे। पहला यह आप के हाथ में है। इसमें हिंदुस्तान की प्राकृतिक और ऐतिहासिक अवस्था का वर्णन किया गया है। दूसरे खंड में यहां की शासनप्रणाली और आर्थिक अवस्था का वर्णन किया जायगा। इन दोनों भागों की सामग्री हिंदुस्तान के इंपीरियल गैज़ेटियर भाग १–४ से संग्रह करके लिखी गई है तथा शासनप्रणाली के वर्णन में और ग्रंथों से भी सहायता ली गई है।

इन पुस्तकों में प्रायः हिंदुस्तान संबंधी प्रत्येक विषय का संक्षेप में वर्णन है। मनुष्य का ज्ञान इतना परिमित होता है कि प्रत्येक विषय में उसकी गति नहीं होती, इस कारण इस पुस्तक के लिखने में कहीं कहीं पर मुझे विशेष कठिनाई का सामना करना पड़ा है और कहीं कहीं बहुत खोजने पर भी पारिभाषिक शब्दों के ठीक ठीक हिंदी शब्द नहीं मिल सके, तथापि मैं ने विषय को स्पष्ट करने में शक्ति भर प्रयत्न किया है और मुझे आशा है कि यदि हिंदीभाषाभाषियों का इससे कुछ भी लाभ हुआ तो मैं अपने प्रयत्न को सफल समझूंगा।

एक बात का यहां कह देना आवश्यक है। इस पुस्तक में जिस जिस विषय पर अपने विचार या सम्मतियां प्रगट की गई हैं वे मेरी नहीं है। युरोपीय विद्वानों ने भारतवर्ष के विषय में जो सिद्धांत स्थिर किए हैं उन्हीं का इस पुस्तक में समावेश किया गया है। इस से हिंदीभाषियों को यह लाभ

होगा कि अपने देश की स्थिति जानने के साथ ही साथ उन्हें यह भी ज्ञात हो जायगा कि युरोपीय विद्वान उनके देश की संस्थाओं के विषय में क्या सम्मति रखते हैं। यदि इस पुस्तक के दोनों खंडों को पढ़ कर पाठकों के हृदय में अपनी मातृभूमि के विषय में विशेष खोज और जानकारी प्राप्त करने का उत्साह उत्पन्न हो जाय तो इस पुस्तक के प्रकाशन का उद्देश्य कई अंशों में सफल हो जायगा।

माडल हाउस, लखनऊ
२६—४—१७

विनीत
दयाचंद्र गोयलीय

विषय-सूची।

पहला भाग—वर्णन।

दूसरा भाग—इतिहास।

हिंदुस्तान।

पहला भाग—वर्णन ।

१—प्राकृतिक अवस्था।

नाम—सैकड़ों वर्ष तक हिंदुस्तान के प्राचीन निवासियों को भी हिंदुस्तान का कोई ऐसा नाम नहीं मिला जिससे उसकी कुल जातियों का बोध हो जाय। प्राचीन नाम भारतवर्ष (अर्थात् उत्तर से आनेवाली एक वीर जाति-भारत लोगों की भूमि) से केवल गंगा और सिंध की घाटी के एक भाग का बोध होता था। मध्य आर्य्य लोग जो पहाड़ी मार्गों से हिंदुस्तान में आ रहे थे, सिंध नदी पर आकर रुक गए। उन्हें यह नदी बहुत बड़ी समुद्र के समान मालूम हुई। उन्होंने ही इसका नाम सिंधु, समुद्र, रक्खा जो अब तक प्रचलित है। ईरानी लोगों ने ज़िंद भाषा में इसका नाम हेंदु रक्खा। यूनानियों ने इंडस रक्खा, परंतु वे इसका देशी नाम सिंधु भी जानते थे। प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्यनसांग का जो हिंदुस्तान में सन ६२९ ई० से ६४५ ई० तक रहा, कथन है कि इसका ठीक नाम 'इंटू' है। वर्तमान फ़ारसी भाषा में इसका नाम 'हिंद' है और इसी के अनुसार बादशाह की

क़ैसर-हिंद कहते हैं। अब हिंद शब्द से केवल पंजाब और गंगा की घाटी के एक भाग से ही अभिप्राय नहीं है, किंतु उत्तर दक्षिण संपूर्ण देश से तात्पर्य्य है।

हिंदुस्तान शब्द का प्रसार—अब हिंदुस्तान उन पहाड़ों और उपत्यकाओं से जो इंडस और गंगा के मैदान के नीचे के भाग को घेरे हुए हैं, अलग नहीं माना जा सकता। आर्थिक, नैतिक और प्राकृतिक, प्रत्येक दृष्टि से वर्त्तमान हिंदुस्तान में ईरान, रूस, चीन और तिब्बत की सीमा तक वे संपूर्ण प्रदेश मिले हुए हैं जो अँगरेज़ी राज्य के अधिकार में हैं। अब हिंदुस्तान से केवल उस विस्तीर्ण महाद्वीप से ही अभिप्राय नहीं है जो हिमालय से रासकुमारी तक फैला हुआ है, किंतु उसमें वे समस्त पहाड़ी भूमियाँ और ऊँची पहाड़ियाँ भी शामिल हैं जो उसके और अवशिष्ट एशिया के बीच में एक स्थायी दीवार के समान हैं और जिसके पार समस्त ऐतिहासिक समयों में उसके चिह्न पाए गए हैं।

दो बड़े विभाग—अतएव हिंदुस्तान के दो बड़े विभाग हैं, जिनके विषय में हमको कहना है। एक बिलोचिस्तान, अफ़ग़ानिस्तान, काश्मीर, हिमालय तथा बरमा के ऊँचे शिखर और मैदान है। दूसरा प्राचीन हिंदुस्तान जिसका इँगलैंड के इतिहास तथा पुरातन पुराणों में उल्लेख है और जिसमें गंगा-सिंधु के मैदान और घाटियाँ शामिल हैं।

मार्ग—हिंदुस्तान में आने के मार्ग सदैव पश्चिम और उत्तर पश्चिम की ओर रहे हैं। ये दक्षिणीय बिलोचिस्तान के बजर चट्टानी रास्तों में से इडस डेल्टा में, या कधार के मैदानों के पार दक्षिणीय सिंध के दर्रों में, या ग़ज़नी से सिंध की घाटी में, या काबुल से पजाब में आने के मार्ग हैं। मध्य एशिया के ऊसर मैदानों और घाटियों से हिंदुस्तान की स्वर्णभूमि में आने के और प्राचीन काल से व्यापार के ये ही मार्ग रहे हैं। यदि भविष्य में रेल और मोटर की उन्नति से एक बार फिर हिंदुस्तान में भूमि-मार्ग जल मार्गों के समान खुल जाँय तो इनमें से कुछ फिर पूर्वीय ससार के राज मार्ग हो जायँगे और हम लदन में हेरात का टिकट ले सकेंगे तथा काबुल वा करॉची के लिये कधार में गाडी बदल सकेंगे। और भी ऐसे अनेक पहाडी रास्ते और पगडडियाँ हैं जिनमें से लोग समय समय पर हिंदुस्तान में आते रहे हैं। यद्यपि लेह और काश्मीर में, तिब्बत से सतलज के दुर्गम मार्गों में, पामीर से गिलगिट के उस पार के दर्रों में तथा लासा से शिकम के दर्रों में होकर मार्ग अब तक विद्यमान हैं, परतु ये मार्ग जनसमुदाय के आने जाने के रास्ते कभी नहीं रहे। इनके द्वारा कभी जनसमूह का प्रवेश नहीं हुआ। न पश्चिम से कोई इनके द्वारा आक्रमण हुआ और न उत्तर में मध्य एशिया से लोगों का आगमन हुआ और न कभी होगा। अब तक प्रकृति को विज्ञान पर महत्व और अधिकार है,

अतएव हमको वे ही मार्ग ग्रहण करने चाहिएँ जिनको प्रकृति बतलाती है।

हिमालय की प्राकृतिक अवस्था—हिमालय की प्राकृतिक दशा का हमें बहुत कम ज्ञान है। कमाऊँ और गढ़-वाल के ज़िले जो उत्तर पश्चिमीय हिमालय में काश्मीर से और दक्षिण पूर्व में शिकम की रियासत से मिले हुए हैं, इस विशाल पर्वत के सर्वोत्तम प्रदेश हैं। यह नहीं कहा जा सकता कि हम नैपाल के विषय में उसकी मुख्य मुख्य बातों को छोड़ कर अधिक कुछ जानते हैं अथवा पुर्वीय पहाड़ों की जिनसे ब्रह्मपुत्र नदी की पुष्टि होती रहती है, आकृति का विशेष ज्ञान रखते हैं। हिमालय के उच्च शिखरों के बीच की घाटियों में उष्ण से उष्ण और शीत से शीत जलवायु तथा वनस्पतियों के होने के कारण वहाँ के मनुष्यों के जीवन की अवस्था भी बिलकुल भिन्न है। इन शिखरों का मनुष्यों के स्वभाव और जीवन पर इतना प्रभाव पड़ता है कि वहाँ के निवासियों को किसी एक ऐसी संज्ञा की आवश्यकता होती है कि जिससे वे दूसरों को यह जना सकें कि अमुक मनुष्य शीत प्रदेश का निवासी है अथवा उष्ण प्रदेश का। केवल एक ही घाटी में (जिसमें संभवतः इतना स्थान होगा कि युरोप के संपूर्ण एलपाइन पहाड़ों की शृंखला उसमें आ जाय) प्रायः भिन्न भिन्न प्रकार के मनुष्य पाए जाते हैं जिससे यहाँ तक प्रगट होता है कि उनकी उत्पत्ति भी भिन्न भिन्न है।

हिमालय के दर्रे—हिमाचल के उस पार के मुख्य मुख्य दर्रे तीन समूहों में विभाजित किए जा सकते हैं। पहला शिप-की समूह जो सतलज के मार्ग से तिब्बत का मार्ग सूचित करता है। यह सतलज नदी हिमालय की उत्तरीय सीमा के उस पार की पर्वतीय भूमि से हिंदुस्तान के मैदानों में आती है। इस समूह में ही वह मार्ग है जो बहुत दिनों तक तिब्बत और हिंदुस्तान के बीच का व्यापार-मार्ग समझा जाता रहा है। संभवतः इसी ने प्रारंभ में शिमले की स्थिति को निर्णीत किया है। यद्यपि यह एक बहुत लंबा उम्दा रास्ता है परंतु व्यापार-मार्ग की दृष्टि से इसने कभी सफलता प्राप्त नहीं की। दूसरा अलमोड़ा समूह है जिससे अलमोड़ा और नैनीताल की स्थिति निर्णीत हुई है और जो उनके उत्तर में है। इन रास्तों के उस पार विशेष कर भेड़ों द्वारा कुछ व्यापार अवश्य होता रहता है। अलमोड़ा समूह से तनिक पूर्व की ओर एक पहाड़ी मैदान है जिसमें घाघरा नदी की मुख्य शाखा बहती है, जो उस प्रसिद्ध जलाशय के पास से ही निकलती है जो मानसरोवर झील तक बराबर बहता गया है और जिसमें से सतलज, इंडस और ब्रह्मपुत्र नदियाँ निकली हैं। तीसरा समूह शिकम रियासत की उत्तरीय सीमा के उस पार दार-जिलिंग से दक्षिणीय तिब्बत और लासा तक है। इस प्रकार हिमालय के समस्त मुख्य मुख्य दर्रे तिब्बत की ऊपरी भूमि में हैं। इनमें वे दर्रे तक शामिल हैं जो वास्तव में हिमालय

क्षेत्र के उस पार हैं जिसका केंद्र बहुत दूर उत्तर-पश्चिम में लद्दाख़ की राजधानी लेह है तथा जो भूटान में बहुत दूर पूर्व में हैं। इनमें से कोई भी व्यापार के सिवाय और किसी अभिप्राय से गम्य नहीं है और न कोई वर्तमान काल में हिंदुस्तान की व्यापारिक उन्नति में ही सहायक है।

गंगा की तराई—हिंदुस्तान का प्रायद्वीप ऊंचे उत्तरीय भाग से जिसकी हिमालय दक्षिणी सीमा है, गंगा की तराई से पृथक होता है। यह हिंदुस्तान का सब से बड़ा और ज़रूरी प्राकृतिक चिह्न है। गंगा की घाटी में ही सदा मुख्य मुख्य राज्य, प्राचीन नगर और शिल्प संपत्ति तथा सभ्यता के पुरातन केंद्र स्थापित हुए हैं। हज़ारों वर्षों से यह नदी बराबर धीरे धीरे ज़मीन को सुधारने का काम कर रही है। यह उन लाखों मनुष्यों को बराबर शक्ति और जीवन प्रदान करती है जो इसे माता कह कर पुकारते हैं, इसकी पूजा उपासना करते हैं तथा बनारस वा हरिद्वार में इसमें स्नान करके अपने को पाप से विनिर्मुक्त करते हैं। गंगा के डेल्टा से इंडस के डेल्टा तक तराई का यह विलक्षण विशाल प्रदेश फैला हुआ है। इसमें कहीं पर एक पत्थर वा ककर भी नहीं पाया जाता। सर्वत्र समान भूमि है। उत्तर के पहाड़ों वा दक्षिण की समतल भूमि से नहीं, किंतु इन्हीं ऊष्ण प्रदेशों से हिंदुस्तान के इतिहास में एक नया जीवन पैदा हुआ है और इन्हीं से हिंदुस्तान की पिछली शताब्दी की

व्यवस्था का अनुमान किया गया है। भूतत्त्व विषयक समय से जब कि नदियां अलग अलग हुईं, जब कि सिंध की शाखा पहले पहल पश्चिम की ओर और गंगा की पूर्व की ओर प्रवाहित हुई, दोनों जल समूहों का प्राकृतिक स्वभाव बड़े वेग से भिन्नता पकड़ता गया।

गंगा की घाटी—ऐतिहासिक समय में ही गंगा की घाटी में बड़े बड़े परिवर्तन हुए हैं। यह सदा नई भूमि बनाती रही है, अपनी धारा को समय समय पर बदलती रही है, कितने ही बड़े बड़े शहरों से जो कभी इसके किनारे पर सुशोभित हो रहे थे, अपने जल को हटा रही है और नए स्थानों को जीवन-दान दे रही है। आज कल इसके किनारे पर कलकत्ता, पटना, बनारस, इलाहाबाद, कानपुर तथा इसकी शाखा जमुना के किनारे पर, दिल्ली, आगरा जैसे संपत्तिशाली और व्यापारपूर्ण शहर हैं। संसार में शायद एक भी ऐसी नदी नहीं है जिसने मनुष्य जाति का इतना उपकार किया हो, अथवा सभ्यता या सामाजिक व्यवस्था की इतनी वृद्धि की हो, जितनी गंगा ने की है। गंगा की घाटी में ही हिंदुस्तान की संपत्ति का भंडार रहा है और इसी के जल से सींचे जानेवाले वनों की छाया में बड़े बड़े तत्त्ववेत्ताओं ने अपने सिद्धांत निश्चित किए हैं जिनका पीछे से सर्वत्र भूमंडल में विकास हुआ है।

इंडस का डेल्टा—पंजाब में सर्वत्र वृक्ष रहित चपटी

ज़मीन है। कहीं जंगल का नाम नहीं। परंतु एक समय वह था जब इंडस के दोनों ओर जंगल भरे हुए थे। इंडस के किनारे के वृक्षों से ही सिकंदर ने अपना बेड़ा बनाया था। पेशावर की घाटी के पास बहुत से दलदली मैदान थे, जिनके घने बाँसों के जंगलों में गैंडे और हाथी अधिकता से रहा करते थे। इस बात को बहुत दिन नहीं हुए। गैंडों की खोपड़ियाँ अभी हाल में गड़ी हुई मिली हैं। पेशावर घाटी की भयानक वायु ईसवी सन् से ३०० वर्ष पहले ऐसी ही विषैली थी जैसी १८५० ईसवी में। भाग्यवश गत ५० वर्षों से विज्ञान शास्त्र ने स्वास्थ्योन्नति का मार्ग प्रगट कर दिया है, जिसके कारण पेशावर की जलवायु पहले से बहुत अच्छी हो गई है, परंतु पंजाब के जंगल बहुत दिन हुए नष्ट हो गए और जहां तक अनुमान किया जाता है, उनके न रहने से इंडस की घाटी की जलवायु में बड़ा परिवर्तन हो गया है।

वर्तमान समय में यहां वर्षा बहुत ही कम होती है। दक्षिणीय सिंध के पास वर्षा केवल ४ इंच से ८ इंच तक वर्ष भर में होती है, परंतु अप्रैल, मई, जून और जुलाई के गर्म महीनों में कभी कभी गर्मी हद दर्जे की हो जाती है। यद्यपि मानसून (सामयिक वायु) की लहरें प्रति मास सिंध पर बहती हैं, परंतु गर्म और ख़ुश्क हवा के कारण भाप बिलकुल नहीं जमती। करांची के पास समुद्र के सम्मुख कोई भी ऐसा पहाड़ नहीं है जो वायु की उन लहरों को ला सके जो ऊँचे

प्रदेशों की ठंढी तहों में चक्कर लगाया करती हैं, जहाँ बारिश बनती है और जहाँ हवा उसमें से नमी निकल जाने के कारण हल्की हो जाती है। यद्यपि सिंध से परे लाहौर तक धीरे धीरे वर्षा नित्य बढ़ती जाती है, परंतु मानसून ऋतु में सिंध की घाटी के किसी भी भाग में निश्चित वर्षा नहीं होती। यद्यपि सिंध के पश्चिमीय सीमावर्त्ती पहाड़ उँचाई में बहुत ज़्यादह हैं तथापि उन पर दक्षिणीय-पश्चिमीय मानसून का कुछ भी असर नहीं होता। इस कारण सिंध घाटी की जलवायु गर्म और खुश्क है और उसमें शाक पात का सर्वथा अभाव है। प्रायः कांटे और झाड़ियों के छोटे छोटे वृक्ष नदियों के किनारे लगे रहते हैं और कहीं कहीं ये ही वृक्ष फैल कर जंगलों में आ मिलते हैं। नहरें वग़ैरह हाल में बहुत बढ़ गई हैं। इन्हीं के कारण अब अनेक स्थानों पर हरियाली के दर्शन होते हैं। ये नहरें यदि जलवायु को नहीं, किंतु भूमि को तो अवश्य धीरे धीरे बदल रही हैं।

दक्षिणी हिंदुस्तान—ताप्ती नदी के दक्खिन से हिंदुस्तान का दक्षिणी भाग शुरू होता है। दक्खिन की उठी हुई भूमि इस प्रकार की बनी हुई है कि उसके कारण हिंदुस्तान के संपूर्ण प्रायद्वीप की आकृति ही बदल गई है अर्थात् उसने दक्खिन ने हिंदुस्तान का एक नया रूप बना दिया है। उत्तर में सतपुरा, विंध्याचल; पश्चिम में पश्चिमीय घाट तथा पूर्व में

पूर्वीय घाट की उँचाई है। तीनों ओर उँचाई के कारण एक त्रिकोण सा बन गया है।

पश्चिमीय घाट का सिरा बहुत ऊँचा है। उसका उतार धीरे धीरे होता हुआ पूर्वीय घाट तक पहुँच गया है, जो बंगाल की खाड़ी के सामने है। दक्खिन के दोनों तरफ़ किनारे हैं। पश्चिमीय किनारे पर बंबई और पूर्वीय किनारे पर मद्रास है। माध्यमिक काल में बंबई और मद्रास प्रांत को ही लोग हिंदुस्तान समझते थे। इन्हीं में पहले पहल विदेशीय व्यापारियों ने पग रक्खा था। युरोप के लोग अनेक शताब्दियों तक पूर्वीय तथा पश्चिमीय घाटों के नीचे की थोड़ी सी उपजाऊ भूमि को ही हिंदुस्तान समझते रहे।

दक्खिन की प्राकृतिक अवस्था—गोदावरी तथा कृष्णा, ये दो नदियाँ ही प्रायः दक्खिन को दो भागों में विभक्त किए हुई हैं। कावेरी दक्खिन में एक तीसरी नदी है। इसका उद्गम मैसूर के उत्तर-पश्चिम में पश्चिमीय घाट में कृष्ण नदी की मुख्य दक्षिणी शाखा तुंगभद्रा के उद्गम के पास ही है। पैनार की घाटी में भी दक्खिन का कुछ भाग है। पैनार एक बहुत ही छोटी सी नदी है जो नैलोर के पास बंगाल की खाड़ी में गिरती है। ये नदियां जो क्रमशः दक्खिन के ढालू चपटे मैदनों में बहती हैं, उन छोटी छोटी नदियों से मिल कर बनी हैं जो घाटों की पूर्वीय भूमि से निकलती हैं। ये

नदियाँ भी वैसे ही सपाट प्रदेशों में होकर बहती हैं जिनमें प्राकृतिक दृष्टि से कुछ भी महत्व की बात नहीं है।

पश्चिमी पहाड़ों की विशाल चोटियां तथा ऊँची नीची भूमि धीरे धीरे उन विस्तीर्ण हरे भरे मैदानों में मिल जाती हैं जिनमें कहीं कहीं पर ऊँची ऊँची पहाड़ियां अकस्मात् पृथिवी तल से उठती हुई दृष्टिगत होती हैं और जिनकी बाह्य आकृति आपस में मिलती जुलती मालूम होती है। बीच की जगह खाली पड़ी हुई है अथवा कहीं कहीं पर छोटे छोटे वृक्षों से आच्छादित हो रही है। परंतु करैल भूमि में जिसमें रुई बहुत ज़्यादह होती है, बड़े बड़े वृक्षों के सघन वन दिखलाई देते हैं। धीरे धीरे नदियों का बहाव बढ़ता गया है और जल-सिंचन से भूमि में उपज भी अधिक होकर प्रकृति की शोभा बढ़ती जाती है। हिंदुस्तान में कोई भी ज़मीन ऐसी उपजाऊ नहीं है जैसी की मध्य भाग की ऊँची करैल भूमि है। दक्खिन के चट्टानी प्रदेशों में बीच बीच में ग्रेनाइट पत्थर के टीले खड़े हुए हैं। कहीं कहीं पर ये बहुत ही बड़े हैं जिस से देश की आकृति में एक स्थानीय विलक्षणता आ गई है जो केवल हिंदुस्तान में ही पाई जाती है। त्रिचनापली की चट्टान, मैसोर में चामुंडी पहाड़ की चट्टानों में कटा हुआ विशाल बैल तथा जबलपुर का मदनमहल जो एक बड़ी भारी गोल चट्टान पर बना हुआ है, ये सब सुंदर और आदर्श रूप हैं।

२—भूगर्भ-विद्या।

हिंदुस्तान तथा हिंदुस्तान से सम्मिलित प्रदेश—उन लोगों के लिये जो यह बात मानते हैं कि समुद्र में मिट्टी जमा होने से ज़मीन बनती है तथा उन लोगों के लिये भी जो इस बात से इनकार करते हैं और कहते हैं कि पिघलती हुई वस्तुओं के ठढे होने से जमीन बनती है, हिंदुस्तान की ज़मीन अद्भुत उदाहरण उपस्थित करती है, जिससे प्रकट होता है कि दोनों सिद्धातों के माननेवाले विद्वान् हद पर पहुँचे हुए हैं। वास्तव में सत्य दोनों सिद्धांतों के बीच में है। दूसरे सिद्धांत के माननेवाले उदाहरण में स्वयं द्वीपकल्प हिंदुस्तान को पेश करते हैं और कहते हैं कि हिंदुस्तान की जमीन में कभी ऐसे परिवर्तन नहीं हुए जिनसे यह पता चले कि ज़मीन कहीं पर दोहरी हो गई है अथवा और किसी तरफ़ की मिट्टी जमा हो गई है, किंतु वह ठीक ठीक वैसी ही चली आई है जैसी बहुत प्राचीन समय में थी जब भूगर्भ विद्या का ज्ञान भी न था। इसके विरुद्ध पहले सिद्धांत के माननेवाले विद्वान् अपने कथन के समर्थन में हिमालय को पेश करते हैं। वे कहते हैं कि यह पहाड़ पहले समुद्र के अदर था और इसका प्रमाण यह है कि इसमें अनेक प्रकार के जल-जतुओं की हड्डियां और ढांचे दबे मिलते हैं। उनके विचारानुसार यह परिवर्तन

उसी काल में हुआ जिसमें लंदन की मिट्टी बनी और हिमालय की ज़मीन त्रितल काल के अंदर ही अंदर २०००० फ़ुट ऊँची हो गई।

अतएव हिंदुस्तान में ही भिन्न भिन्न प्रकार के क्षेत्र हैं। ज़मीन की भीतरी बनावट तथा ऊपरी अवस्था, जिसका कारण भी भीतरी परिवर्त्तन है, दोनों क्षेत्रों की पृथक पृथक हैं। द्वीपकल्प को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि यह तमाम ज़मीन वैसी की वैसी ही रही। ज़मीन की मिट्टी तथा उसके भीतर की दबी हुई चीज़ों से यह पता लगता है कि यह तमाम ज़मीन ज्यों की त्यों है। इसमें कोई ऊँचाई वग़ैरह नही हुई। इसके विपरीत हिमालय की ज़मीन को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि थोड़े ही दिनों में ज़मीन के उभाड़ के कारण बड़े बड़े पहाड़ बन गए हैं।

स्थावर प्रायद्वीप—समुद्र के किनारों को छोड़ कर जहाँ पानी चढ़ता उतरता रहता है, हिंदुस्तान में कहीं पर भी ऐसी मिट्टी या चट्टान नहीं मिलती जहाँ जल-जंतुओं का हड्डियां दबी हों। पहाड़ों की बनावट को देखते हुए हिंदुस्तान के विषय में कहा जा सकता है कि यहाँ के पहाड़ पानी के बहाव से धुलते धुलते बन गए हैं। अर्थात् पहले ज़मीन बिल-कुल ठोस थी। बहुत समय तक वर्षा होने तथा गर्मी सर्दी के प्रभाव से नरम मिट्टी कट कट कर बह गई और मैदान बन गए तथा बीच बीच में ऊँचे टीले अर्थात् पहाड़ रह गए।

गंगा और सिंध की घाटियों के उत्तर, पश्चिम और पूर्व में बिलकुल दूसरी हालत है। सिंध, बिलोचिस्तान, हिमालय, आसाम और बरमा में हमको इस बात के अनेक प्रमाण मिलते हैं कि ज़मीन कई बार पानी में डूब गई और फिर उभड़ आई। इन स्थानों में पहाड़ों की श्रेणी बनने का अनुमान हम उभड़ती हुई चट्टानों से कर सकते हैं, परंतु उन स्थानों की नदियों का, जो अभी हाल में ऊँचे हुए हैं, ऐसा तेज़ बहाव है और वे मिट्टी को ऐसी तेज़ी से काट डालती हैं कि उनके बहाव के साथ बहुत सी मिट्टी नीचे आ जाती है।

हिंदुस्तान और अफ्रीका के प्रायद्वीप—इस बात के अनेक प्रमाण मौजूद हैं कि किसी समय हिंदुस्तान और अफ्रीका के दक्षिणी तथा मध्य भाग आपस में मिले हुए थे और बहुत लंबी लगातार सूखी ज़मीन उनके बीच में पड़ी हुई थी। ज़मीन में दबे हुए जानवरों के ढाँचों से मालूम होता है कि दोनों महाद्वीपों के बीच में ज़मीन का मिलान था। यदि इतना नहीं तो न सही, परंतु इतना तो अवश्य था कि उनके बीच में केवल इतना ही पानी था कि ज़मीन पर होनेवाले पौधे और जानवर बह कर या तैर कर एक महाद्वीप से दूसरे महाद्वीप तक आसानी से पहुँच सकते थे। एक प्रमाण और है और मेरी समझ में वह इस कारण से और भी अधिक विश्वास के योग्य है कि वह एक दूसरी दृष्टि से लिया गया है। देखा जाता है कि शिकली टापू जिसके और अफ्रीका के

तथा मेडेगास्कर के बीच में पानी की गहराई बहुत कम है तथा मालद्वीप जो हिंदुस्तान के किनारे पर है, इन दोनों के बीच में पानी से ढका हुआ एक पुश्ता है जो उन बरफ़ के समान ठंडी दक्षिण केंद्रीय लहरों को जो दक्षिणीय हिंद-सागर में पाई जाती हैं, अरब-सागर में जाने से रोक देता है। इसी कारण से अरब-सागर दक्षिणी हिंद-सागर की अपेक्षा अधिक गर्म है।

यह प्राचीन महाद्वीप का अवशिष्ट हिस्सा है, जो पानी से इतना ढक गया है कि हिंदुस्तान को दक्षिणी अफ्रीका से बिलकुल अलग करता है। यह पानी से ढकी हुई बीच की ज़मीन अब तक उत्तर पश्चिमीय समुद्र (अरब-सागर) तथा दक्षिण-पूर्वीय समुद्र (हिंद-सागर) की बीच में एक पुश्ते के तौर पर है। इसी आधार पर अफ्रीका के जानवरों का हिंदुस्तान में पाया जाना कोई आश्चर्य्य की बात नहीं है। जानवरों की हड्डियों के देखने से भी यही बात मालूम होती है। गंगा के मैदान के दक्खिन में अनेक प्रकार के ऐसे जानवर हैं जो बरमा वग़ैरह की तरफ़ नहीं पाए जाते, किंतु उनसे मिलते जुलते अनेक जानवर मेडागास्कर और दक्षिणी मध्य अफ्रीका में पाए जाते हैं। जानवरों में जो यह समानता पाई जाती है, उसका कारण केवल यही है कि किसी समय में हिंदुस्तान और अफ्रीक़ा के बीच में ज़मीन थी और जानवर वग़ैरह इधर उधर आ जा सकते थे। जो थोड़ा सा भेद

उनमें पाया जाता है, उसका कारण यह है कि जब ये दोनों महाद्वीप पृथक हुए तो इन दोनों स्थानों के जानवर भी अलग अलग रहने और बढ़ने लगे और भिन्न भिन्न जलवायु, आहार तथा अन्य अनेक कारणों से जिनको जंतुशास्त्र के विद्वान् भली भांति जानते हैं, समय पाकर ये प्रत्यक्ष परिवर्तन हो गए।

ज्वालामुखी पहाड़ों का प्रभाव—जिस समय में हिमालय पहाड़ ने उठ कर हिंदुस्तान और एशिया के बीच में एक बड़ा प्राकार बनाया है, हिंदुस्तान की ज़मीन में अनेक परिवर्त्तन हो गए हैं। हिमालय के पूर्व पश्चिम दोनों तरफ़ के क्षेत्रों में अभी तक नए पहाड़ ज़मीन की गर्मी से उमड़ते रहते हैं और ज्वालामुखी पहाड़ों की आग से पिघलते रहते हैं। पूर्वी सिरा बैरनद्वीप, नारकोंडम और पप्पा से लेकर जावा, सुमात्रा और संडा द्वीप तक फैला हुआ है और इन स्थानों में ज्वालामुखी पहाड़ बड़ी तेज़ी के साथ भभक उठते हैं। पश्चिमी सिरा ईरान तक फैला हुआ है और उसमें कोह सुलतान, कोह तफ़दान और कोह बसमान, ये तीन ज्वालामुखी पहाड़ हैं।

भूकंप—भूकंप अधिकतर हिंदुस्तान के ऐसे हिस्सों में आते हैं, जहाँ चट्टानें अभी हाल में दोहरा कर बनी हैं। इस प्रकार के भूकंप मध्य हिंदुस्तान में नहीं आते। भूकंपवाले स्थान आसाम तथा काँगड़े में हैं। आसाम में बहुत बड़ा

भूकंप सन् १८६७ ई० में १२ जून को आया था। उसका क्षोभ (धमक) १२००००० वर्ग मील तक हुआ था। काँगड़े का भूकंप ४ अप्रैल सन् १६०५ ई० को प्रातःकाल आया था जिससे लगभग २०००० मनुष्य मर गए थे। इसकी धमक भी उतनी ही दूर पहुँची जितनी कि पहली बार सन् १८६७ ई० में पहुँची थी, अर्थात् पश्चिम में केटा तक, दक्षिण में सूरत तथा बंगाल में फाल्सपौइंट तक और पूर्व में आसाम में लखीमपुर तक। हाल में अनेक परिवर्तन खास हिंदुस्तान की धरातल में हुए हैं। कहीं कहीं पर ये परिवर्त्तन भूकंप से संबंध रखते थे। जैसे १८१६ के कच्छ के भूकंप में जिसमें कच्छ की खाड़ी का कुछ भाग अधिक गहरा हो गया था, तथा १८६७ के भूकंप में आसाम की पहाड़ियों की ऊँचाई में बहुत.भेद पड़ गया था। अंडमन और निकोबार द्वीप अराकान किनारे से ज़मीन के डूब जाने के कारण पृथक् हो गए हैं।

बंबई के पूर्व में अनेक वृक्ष पानी से १२ फुट नीचे कीचड़ में दबे हुए पाए गए हैं। ऐसे ही तिनावली के किनारे पर एक जंगल के पानी में धँस जाने का उल्लेख किया गया है। इसके विपरीत इस बात का पूरा सबूत मौजूद है कि तिनावली के किनारे का एक भाग उमड़ आया है और उसने समुद्र को कयाल के निकट पीछे हटा दिया है।

गंगा और सिंध की जमी हुई ज़मीन—हिंदुस्तान में सब से अधिक और सब से आवश्यक, पानी से जमी हुई

ज़मीन सिंध, गंगा और ब्रह्मपुत्र से तर होनेवाले मैदानों में है। इस ज़मीन में सर्वत्र बलुई मिट्टी की अधिकता है। पुरानी ज़मीन की पहचान यह है कि उसमें बालू के स्थान में कंकर मिलते जाते हैं जो सड़क कूटने या चूना बनाने के काम में आते हैं। दो स्थानों में छेद करके अंदर की ज़मीन की जाँच की गई है। पहले तो कलकत्ते में ज़मीन ४८१ फुट तक गहरी खोदी गई परंतु कहीं पर पत्थर या चट्टान का नाम भी न निकला। हाँ ३३० फुट नीचे तक ताज़े पानी में रहनेवाले जानवरों के ढाँचे अर्थात् सीपियाँ पाई गई हैं और उसके बाद खुरदुरे पथरीले टुकड़े पाए गए हैं। इससे प्रगट होता है कि कलकत्ते की ज़मीन दरियाई मिट्टी की बनी हुई है जो नीचे धँस गई है। लखनऊ में समुद्रतल से १००० फुट नीचे तक छेद किया गया है। परंतु बालू के ढेलों के सिवाय और कुछ नहीं मिला।

ऊँचे पर की नदियों की जमा की हुई मिट्टी—हिंदुस्तान, आसाम और बरमा के मैदानों में नदियों से जमा की हुई मिट्टी के अतिरिक्त मिट्टी की अनेक विचित्र तहें ऊँचाई पर पाई जाती हैं, जैसे सतलज के ऊपरी भाग की घाटी में जो हुंदाज़ में है रीढ़ की हड्डीवाले जानवरों के ढाँचे पाए गए हैं तथा काश्मीर में उत्तरीय झेलम में करेवा की तहें मिली हैं और नैपाल की तौर ज़मीन में पीट और फ़ासफ़ोरस की

तहें मिली हैं। ऐसी ही तहें मनीपुर और बरमा की चिंडविन घाटी में भी पाई जाती हैं।

हवा और आंधी से बनी हुई ज़मीन—उड़ीसा के किनारे के बालू के तूदे, तिनावाली और ट्रावनकोर के किनारे की तेड़ी, गोदावरी कृष्णा और कावेरी के किनारों पर के आँधी के बने हुए बालू रेत के टीले, बिलोचिस्तान की पहाड़ियों की कँकरीली ढाल तथा मैदानों के बारीक चमकीले ढूहे, पोतवार के बड़े बड़े मिट्टी के ढेर, राजपुताना और सिंध की रेतीली तहें, दक्खिन की काली मिट्टी ये सब हवा और आँधी के प्रभाव से बने हैं। इनका यहाँ पर केवल नाम ले लेना ही काफ़ी है।

३—पवन-विद्या।

हिंदुस्तान में वायु की भिन्नता और विलक्षणता—हिंदुस्तान में नाना प्रकार की वायु तथा उनकी भिन्न भिन्न अवस्थाएँ पाई जाती हैं। इसके बराबर किसी भी देश में ऐसी भिन्नता या विलक्षणता नहीं पाई जाती। कहीं कहीं पर बहुत ज़्यादह वर्षा होती है और कहीं कहीं पर नाम मात्र को होती है। उदाहरण के लिये आसाम के पहाड़ों में चिरापूँजी में ४६० इंच तक साल भर में वर्षा होती है, पश्चिमीय घाट तथा अराकान और तनासिरम के पहाड़ों के खुले हुए स्थानों में ३०० और ४०० इंच के बीच में होती है, परंतु ऊपरी सिंध में ३ इंच से भी कम होती है। सब से अधिक वर्षा जो सन् १८६१ ई० में चिरापूँजी में हुई थी उसका परिमाण ६०५ इंच था, परंतु उस साल ऊपरी सिंध में एक इंच भी वर्षा नहीं हुई थी। २४ घंटे में २५ इंच से ज़्यादह वर्षा भी प्रायः कहीं कहीं पर होती रहती है। १५ इंच वर्षा तो अनेक स्थलों में होती है। वर्ष के एक भाग में तो हिंदुस्तान के खेत बिलकुल पानी में डूबे रहते हैं, परंतु दूसरे भाग में बिलकुल सूखा मौसिम हो जाता है और सप्ताहों तथा महीनों तक बादल भी दिखाई नहीं देते। वर्षा ऋतु में पहाड़ों तथा समुद्र के किनारों के प्रदेशों में हवा बिलकुल नमी से भरी

हुई रहती है, परंतु गर्मी में नमी का नाम तक नहीं होता। किनारों पर प्रायः बड़े ज़ोर की आँधी आया करती है। यह अपने साथ तूफ़ानी लहरें घसीट लाती है जो दक्षिणी बंगाल, महानदी, गोदावरी और कृष्णा के डेल्टा तक पहुँचती हैं और कितने ही खेतों को बरबाद कर देती हैं और हज़ारों आदमियों को डुबा देती हैं। हिंदुस्तान में एक ऋतु में सर्वत्र हरियाली ही हरियाली दिखाई देती है, परंतु दूसरी ऋतु में वे ही हरे भरे मैदान बिलकुल सूखे और भूरे रंग के हो जाते हैं, हरियाली के कहीं दर्शन भी नहीं होते, आसमान बिलकुल धुँधला हो जाता है और हवा ऐसी गर्म चलती है कि यहाँ के आदमी भी उसको सहन नहीं कर सकते। हिंदुस्तान के मध्य भाग में इस दशा से पहली दशा में थोड़े ही दिनों में परिवर्त्तन हो जाता है। किसी वर्ष में इतनी थोड़ी वर्षा होती है कि कितने ही प्रांतों में घोर अकाल पड़ जाता है और लाखों आदमियों की उदरपूर्त्ति के लिये कुछ काम खोलना पड़ता है, परंतु किसी वर्ष इतनी अधिक वर्षा होती है और उससे इतना अन्न पैदा होता है कि बहुत सा लोगों के खाने से बच जाता है।

उष्ण और मंदोष्ण अवस्थाएं—हिंदुस्तान में उष्ण और मंदोष्ण दोनों अवस्थाओं का मेल है। किसी ऋतु में अधिक गर्मी और घनघोर वर्षा होती है तथा बड़े ज़ोर की

आँधियाँ चलती हैं, परंतु किसी ऋतु में गर्मी और वर्षा कम होती है और आँधियाँ भी हलकी आती हैं।

हिंदुस्तान ही एक ऐसा देश है जिसमें भिन्न भिन्न प्रकार की मौसमी हवा चलती हैं, कहीं कहीं पर असीम वर्षा होती है, परंतु कहीं पर नाम मात्र को भी नहीं होती। वर्ष के आधे भाग में तो सूखी हवा चलती हैं जिनमें मेघ और वर्षा का नाम भी नहीं होता, परंतु आधे भाग में बड़ी तर सामुद्रिक वायु चलती हैं जो मेघ और वर्षा से परिपूर्ण होती है।

हिंदुस्तान की वायु का अन्य स्थानों से संबंध–अनेक वर्षों से लोगों का यह विचार था कि हिंदुस्तान तथा उसके अंतर्गत बरमा, अरब सागर और बंगाल की खाड़ी आदि स्थानों का वायुक्षेत्र सर्वथा पृथक् है अर्थात् यहाँ की वायु पर कहीं का कुछ प्रभाव नहीं पड़ता, अतएव यहाँ की ऋतु का अनुमान यहाँ की वायु से ही करना चाहिए। यह भी मान लिया गया था कि हिंदुस्तान उत्तरीय प्रदेशों की शीतल वायु से, उत्तर में हिमालय से और पश्चिम में सुलेमान पहाड़ से बचा रहता है। इस पर केवल भूमध्यरेखा की ओर के समुद्रों की उष्ण लहरों का असर होता है। इसमें संदेह नहीं कि इस उत्तरीय सीमावर्ती पहाड़ से हिंदुस्तान की जल वायु पर और विशेष कर सिंध-गंगा के बीच के मैदान पर बहुत अधिक असर पड़ता है। यदि हिंदुस्तान

के इस प्रदेश का मिलान अमरीका के उन मध्यवर्त्ती दक्षिणी भागों से किया जाय जो उसी अक्ष पर स्थित हैं तो ज्ञात होगा कि हिमालय के बीच में आ जाने से सिंध और गंगा के बीच के मैदानों की गर्मी बढ़ गई है। यदि हिमालय बीच में न होता और उत्तर के ध्रुवीय प्रदेशों तक मैदान फैले रहते तो गर्मी कम होती। तथापि यह कहा जा सकता है कि हिंदुस्तान की वायु पर अन्य स्थानों का प्रभाव पड़ता है। हिंदुस्तान में शीत ऋतु की वर्षा अधिकतर उन तूफ़ानों पर निर्भर है जो हिंदुस्तान के उत्तर पश्चिम में बहुत ऊँचे आकाश में उठते हैं और मानसून वर्षा कुछ तो हिंदसागर की अवस्थाओं पर और कुछ पूर्वीय अफ्रीका संभवतः ईरानी क्षेत्र की और शायद कुछ कुछ मध्य एशिया की अवस्थाओं पर निर्भर है।

मानसून--मानसून उस मौसमी हवा को कहते हैं जो छः महीने तक एक तरफ़ चलती रहती है। यह हवा अपने साथ वर्षा लाती है। इसी कारण से इसको वर्षा काल कहते हैं। हिंदुस्तान की वायु में मुख्य बात यह है कि यहाँ क्रम से दो ऋतुएँ हुआ करती हैं। एक का नाम दक्षिणी पश्चिमीय मानसून है और दूसरी का उत्तरीय पूर्वीय मानसून। उत्तरीय पूर्वीय मानसून में महाद्वीप से आँधियाँ चला करती हैं। जिसके कारण यह मौसिम बड़ा सूखा होता है। केवल वह भाग बचा रहता है जहाँ हवा समुद्र पर होती हुई आती है। इसलिये, हिंदुस्तान में इस मौसिम में आकाश बिलकुल

साफ़ होता है या कुछ कुछ नाम मात्र को बादल होते हैं और पानी बहुत थोड़ा गिरता है। इसका कारण या तो हवा का कमज़ोर दवाव होता है, या कुछ और स्थानीय परिवर्त्तन। इसके विपरीत दक्षिणीय पश्चिमीय मानसून उन हवाओं से भरी हुई होती है जो समुद्र से आती हैं और बहुत तर होती हैं। इस मौसिम में प्रायः सर्वत्र बहुत ज़्यादह वर्षा होती है। हिंदुस्तान में वर्षा का वार्षिक औसत या पड़ता जो २००० स्थानों की वर्षा के परिमाण से लगाया गया है ४५ इंच है। इस में से ९० प्रति सैकड़ा दक्षिणी पश्चिमीय मानसून में बरसता है। इस दृष्टि से हिंदुस्तान के मौसिमों के लिये 'सूखी मानसून' तथा 'तर मानसून' शब्दों का प्रयोग करना बहुत ठीक और उचित मालूम होता है।

सूखी मानसून—सूखी मानसून जो आधे दिसंबर के करीब से मई के अंत तक रहती है, दो भागों में विभक्त है। एक भाग में गर्मी बहुत कम होती है, परंतु दूसरे भाग में बहुत ज्यादह गर्मी होती है। पहला भाग जनवरी फरवरी का महीना होता है। उत्तरीय हिंदुस्तान में इन महीनों में सर्दी पड़ती है। दूसरा भाग मार्च से मई तक रहता है।

तर मानसून—तर मानसून भी दो भागों में विभक्त होती है। पहला जून से सितंबर तक ख़ास मानसून का समय है। इन महीनों में प्रायः सर्वत्र हिंदुस्तान में वर्षा होती है। दूसरा अक्तूबर से दिसंबर तक रहता है। इन महीनों में

वर्षा का रुख दक्षिण की तरफ़ हो जाता है और यह कम हो जाती है, यहाँ तक कि हिंदुस्तान के जल या भूमि-क्षेत्रों से तर लहरें निकल कर अन्त की तरफ़ चली जाती हैं।

शीत ऋतु—हिंदुस्तान में इस ऋतु में आकाश स्वच्छ रहता है, नमी कम रहती है, दिन में गर्मी सर्दी ज़्यादह रहती है और वायु हलकी होती है। ये ही इस ऋतु के विशेष गुण हैं। यह अवस्था पंजाब में अक्तूबर के आदि में ही हो जाती है। वहाँ से धीरे धीरे यह दक्षिण की तरफ़ फैलती जाती है और अंत में सर्वत्र जल और भूमि में अक्षांश के ऊपर तक दिसंबर के समाप्त होने से पहले पहले हो जाती है। नवंबर, दिसंबर के महीने प्रायः उत्तरीय हिंदुस्तान में अत्यंत रम्य और सुखकर होते हैं।

इस मैासिम में लोअर बरमा में बहुत कम वर्षा होती है और हिंदुस्तान के अधिकतर भागों में बिल्कुल ही नहीं होती। उत्तरीय हिंदुस्तान के पहाड़ी ज़िलों में सब से ज़्यादह वर्षा होती है, और पहाड़ों से दूरी जितनी अधिक होती जाती है उतनी ही वर्षा भी कम होती जाती है। पश्चिमीय हिमालय तथा अफ़ग़ानिस्तान और बिलोचिस्तान के ऊँचे पहाड़ों की मुख्य बात यह है कि वहाँ बरफ़ बहुत ज़्यादह गिरती है। जितनी ज़्यादह ऊँचाई होती है उतनी ही अधिक बरफ़ गिरती है। १५००० फ़ुट की ऊँचाई पर ३० फ़ुट के क़रीब औसत

पड़ता है, परंतु ज़्यादह ऊँचे पहड़ों पर ६० से लेकर १०० फुट तक बरफ़ गिरती है।

दक्षिणी हिंदुस्तान में प्रायः इस समय सुखकर ऋतु होती है। कभी कभी मेंह और तूफ़ान भी किनारे के ज़िलों में तथा पालनी और नीलगिरी या अनामली पहाड़ों पर आते रहते हैं। ऐसा प्रायः उत्तरीय हिंदुस्तान में सख़्त तूफ़ानों के बंद होते ही होने लगता है जब कि उत्तरीय हवाएँ खाड़ी में चलती हैं और कारोमंडल किनारे के पार पूर्वीय हवाओं के रूप में बहती हैं। उत्तरीय और दक्षिणीय हिंदुस्तान में यह एक बड़ा भारी भेद पाया जाता है। एक भाग में गर्मी अधिक होती है, परंतु बादल होते हैं और दूसरे भाग में गर्मी कम होती है, परंतु बादल का नाम भी नहीं होता और मौसिम साफ़ होता है।

ग्रीष्म ऋतु—सूखे मौसिम का दूसरा भाग मार्च, अप्रैल और मई के महीने में होता है। गर्मी के बढ़ जाने से मार्च के अंत में सूखी मानसून के मौसिम के पहले भाग की अवस्थाएँ सर्वत्र हिंदुस्तान में हो जाती हैं। अप्रैल और मई के महीनों में हिंदुस्तान के मध्य भाग में हवा के दबाव, उष्णता तथा आर्द्रता या सरसता में बड़ा परिवर्त्तन हो जाता है। उष्ण भूमि-देशों से हवा के निकटवर्त्ती शीत प्रदेशों में, विशेष कर दक्षिण के समुद्री प्रदेशों में चले जाने के कारण गर्मी तेज़ी से बढ़ जाती है। इसी कारण से हिंदुस्तान में पास के समुद्रों की

अपेक्षा हवा का वेग कम हो जाता है। ग्रीष्म ऋतु में तूफ़ान स्थानीय होते हैं। पंजाब, सिंध, राजपुताना तथा गंगा के मैदान के तूफ़ानों में धूल और मट्टी होती है, परंतु आसाम, बंगाल, बरमा, पश्चिमीय किनारे के ज़िलों तथा दक्खिन में जहाँ समुद्र की तर हवाओं तथा अंदर की सूखी हवाओं का एक दूसरे के साथ न्यूनाधिक संबंध रहता है तूफ़ानों में गरज और कड़क होती है। ओले जितने आसाम में गिरते हैं उतने और कहीं नहीं। ऐसी आँधियाँ मध्य हिंदुस्तान में प्रायः आती रहती हैं। बंगाल, बंबई, राजपुताना, संयुक्तप्रांत, मध्य-प्रांत तथा सिंध में भी वे कभी कभी आती हैं। अपर बरमा, हैदराबाद (दक्खिन) और काठियावाड़ में भी ये आँधियाँ प्रायः आती रहती हैं, परंतु मैसूर, दक्षिणी मद्रास, मलाबार, कोकन और लोअर बरमा में वे बहुत कम आती हैं। बंगाल और आसाम में सूखी और तर हवाओं का एक दूसरे के साथ संबंध है तथा पहाड़ हवाओं को ऊपर चढ़ाते हैं। वहाँ ये आँधियाँ अक्सर आती रहती हैं और कभी कभी बड़े ज़ोर की होती हैं। कभी कभी ये लकूरा और बगूला का रूप धारण कर लेती हैं और बड़ी सख़्त होती हैं। ये ज़मीन से चक्कर बाँधती हुई ऊपर को उठती हैं। ग्रीष्म ऋतु के तूफ़ानों के कारण जो वर्षा होती है वह उत्तर पूर्वीय हिंदुस्तान के लिये और विशेष कर आसाम में चाय की फसिल के लिये बड़े काम की होती है।

तर मौसिम या दक्षिणी पश्चिमीय मानसून—

अब हम दक्षिणी पश्चिमीय मानसून का उल्लेख करते हैं। इस तर मौसम के पहले भाग में अर्थात् जून से सितंबर तक दक्षिणी पश्चिमीय मानसून की लहरें तमाम हिंदुस्तान में फैल जाती हैं और इन लहरों से ही वर्षा होती है। यह ख़ास दक्षिणी पश्चिमीय मानसून का समय है। यह मौसम बहुत ही ज़रूरी है क्योंकि इसी मौसम की वर्षा पर ही हिंदुस्तान के लगभग $\frac{५}{६}$ भाग की उन्नति या समृद्धि निर्भर होती है। जितनी अधिक वर्षा इस ऋतु में होती है उतनी ही अधिक अन्न की उत्पत्ति होती है।

तर मानसून के आने की तारीखें—ये तारीख़ें जिनमें मानसूनी लहरें हिंदुस्तान के मुख्य मुख्य प्रांतों में फैलती हैं, इस प्रकार हैं—

देश।	दक्षिणी पश्चिमीय मानसून के प्रारंभ होने की लगभग तारीख़ें।
मलाबार	३ जून
बंबई	५ ,,
दक्खिन	७ ,,
मध्यप्रांत	१० ,,
मध्य हिंदुस्तान	१५ ,,
राजपुताना	१५ ,,
बंगाल	१५ ,,

बिहार	१५ जून
संयुक्तप्रांत (पूर्व)	२० ,,
,, ,, (पश्चिम)	२५ ,,
पूर्वीय पंजाब	३० ,,

किनारों के ज़िलों में ते मानसून की तारीख़ों में कोई ज़्यादह अंतर नहीं है, हां उत्तर पश्चिमीय हिंदुस्तान में बहुत ज़्यादह अंतर है। जून के अंत तक सर्वत्र हिंदुस्तान में प्रायः मानसून फैल जाती है। जुलाई और अगस्त में पंजाब की उत्तरीय सीमा तक मानसून की लहरें बढ़ जाती हैं और बहुत ज़्यादह बारिश होने लगती है, परंतु सितंबर के पहले या दूसरे सप्ताह में लहरों का ज़ोर कम होने लगता है और वर्षा कम होने लगती है और पिछले सप्ताहों में बिलकुल घट जाती है।

अंतिम दक्षिणी पश्चिमीय मानसून—तर मौसिम के दूसरे भाग से मौसिम बदलने लगता है और खुश्क मौसिम होना शुरू हो जाता है। इस मौसिम में वर्षा का क्षेत्र कम हो जाता है और कहीं कहीं बिलकुल घट जाता है। परंतु यह उन्हीं हवाओं पर निर्भर है जिन पर पहले मौसिम अर्थात् जून से सितंबर तक की अवस्था निर्भर रहती है। सितबर के अंत में मौसिम तर से खुश्क होने लगता है और दिसंबर के तीसरे सप्ताह में बिलकुल खुश्क हो जाता है। यह पहले उत्तरीय हिंदुस्तान में प्रगट होता है, इसके बाद प्रायः ज़ोर से वर्षा आती है, आँधी के साथ ओले गिरते हैं

और खाड़ी के ऊपर से तूफ़ान उठता है। तूफ़ान के हटते ही आकाश साफ़ हो जाता है और हल्की और खुश्क पश्चिमीय हवाएँ नमीदार हवाओं की जगह ले लेती हैं। हवा में खुश्की बढ़ जाने से रात्रि की गर्मी कम होने लगती है और बादल के न रहने से दिन की गर्मी बढ़ने लगती है। इसलिये, दैनिक औसत टेंप्रेचर पहले तो क़रीब क़रीब वैसी ही रहती है, परंतु फिर बहुत ज़्यादह बढ़ जाती है।

वर्षा का परिमाण—हिंदुस्तान में भिन्न भिन्न ऋतुओं में इस प्रकार वर्षा होती है—

शीत ऋतु (जनवरी, फरवरी)	०. ६६ इंच
उष्ण ऋतु (मार्च, मई)	४. ५८ ,,
दक्षिणीय पश्चिमीय मानसून (जून से सितंबर तक)	३४.६५ ,,
अंतिम दक्षिणीय पश्चिमीय मानसून (अक्टूबर से दिसंबर तक)	४. ६५ ,,

वर्ष भर की वर्षा सामान्य रूप से १०० में से १२ भाग तो सूखे मौसिम में होती है और ८८ भाग तर मौसिम में, परंतु बंगाल में इसी मौसिम में १८ इंच, पंजाब में २१ इंच तथा आसाम में ३० इंच तक वर्षा होती है। इन संख्याओं से प्रगट होता है कि आसाम में ग्रीष्म ऋतु की तथा पंजाब में शीत ऋतु की वर्षा कितनी उपयोगी है।

अनावृष्टि और अकाल–जब कभी किसी क्षेत्र में वर्षा नहीं होती है अथवा कम होती है और फसिल पैदा नहीं होती; तो वहाँ थोड़े दिनों में अकाल पड़ जाता है। अराकान तथा पूर्वीय बंगाल आदि प्रदेशों में जहाँ सामान्यतया बहुत ज़्यादह वर्षा होती है, यदि कभी दैवयोग से फसिल के लायक़ वर्षा न हो और उसके कारण फसिल पैदा न हो तो वहाँ दुष्काल पड़ने में देर नहीं लगती। अनावृष्टि विशेष कर भीतरी ज़िलों में होती है जहाँ सामान्य वर्षा यदि ठीक तौर पर हो तो यद्यपि वह अधिक नहीं तथापि फ़सिल के लिये काफ़ी हो जाती है।

तर मानसून के पहले हिस्से की वर्षा खेती के काम के लिये इतनी उपयोगी या लाभदायक नहीं होती जितनी दूसरे हिस्से की। इस कारण इस बात की अत्यंत आवश्यकता है कि अगस्त सितंबर में वर्षा हो और अक्तूबर में भी कभी कभी हो कि जिससे मुख्य मुख्य चीज़ों की फ़सिल अच्छी तौर से पैदा हो। अगस्त में ही वर्षा के एकदम बंद हो जाने से संभव है कि चावल की फ़सिल बिलकुल मारी जाय।

उत्तरीय पश्चिमीय तथा मध्य हिंदुस्तान में केवल यह ही नहीं कि दक्षिण पश्चिमीय मानसून की वर्षा न हो अथवा कम हो, किंतु यह भी संभव है कि शीत ऋतु के आदि में अथवा अंत में वर्षा हो। यदि आदि में वर्षा नहीं होती तो

प्रायः अंत में भी नहीं होती। दोनों ऋतुओं में अनावृष्टि से दोनों ऋतुओं की फ़सिलें मारी जाती हैं और बड़ी हानि पहुँचती है। पंजाब तथा गंगा के मैदान में इस प्रकार की घोर अनावृष्टि हुई है। दो चार साल तक वर्षा के अभाव या न्यूनता से अकाल पड़ जाता है और आगामी कई साल तक फ़सिल अच्छी नहीं होती। सन् १८९६ ई० में, मध्यप्रांत में ऐसी ही दुर्घटना हुई थी।

४—वनस्पति-विद्या।

हिंदुस्तान के वृक्ष और उनके भेद—अंगरेज़ी हिंदुस्तान के वृक्षों की जातियाँ यदि संपूर्ण भूमंडल से नहीं तो पूर्वीय मंडल के इसी क्षेत्रफल के अन्य देशों से तो अवश्य बहुत ज़्यादह हैं। इसके अनेक कारण हैं। प्रथम तो भौगोलिक दृष्टि से यह देश बहुत बड़ा है और इसमें गर्म और बीच के दर्जे की दोनों तरह की ज़मीनें पाई जाती हैं। दूसरे इसका धरापीठ समुद्र की पीठ से लेकर यहाँ तक ऊँची है कि वहाँ वनस्पति का पैदा होना ही असंभव है। तीसरे इसमें जल वायु की बड़ी भिन्नता है। उष्ण से उष्ण और शीत से शीत जल वायु यहाँ पाई जाती है। कहीं कहीं अत्यंत सूखे मरु-स्थल हैं और कहीं कहीं शुष्कता का नाम भी नहीं, अत्यंत सरसता है। चौथे सीमावर्त्ती देशों के वृक्षों के हिंदुस्तान में आने से हिंदुस्तान के वृक्षों की संख्या बढ़ती जाती है। ये वृक्ष विशेष कर पूर्व और दक्षिण में चीन और मलाया से, पश्चिम में एशिया, युरोप तथा अफ्रीका के देशों से और उत्तर में तिब्बत और साईबीरिया से आते हैं। इसमें संदेह है कि हिंदुस्तान अन्य समान क्षेत्रफलवाले देशों से वृक्षों के भेद प्रभेदों की संख्या में बढ़ा हुआ है, परंतु साथ ही यह भी सत्य है कि एक प्रकार के वृक्ष के कई कई भेद और

अवस्थाएँ करने में अनेक देशों से विशेष कर चीन, आस्ट्रेलिया और दक्षिणीय अफ्रीका से यह घटा हुआ है।

वृटिश हिंदुस्तान की वनस्पति में जिसमें फूलदार वृक्ष तथा बिना फल फूल वाले वृक्ष शामिल हैं एक भी ऐसा वृक्ष नहीं है जो स्वयमेव कोई ऐसी बात रखता हो जिससे वह अन्य देशों के वृक्षों से पृथक् किया जा सके। यदि वहाँ की वे जातियाँ निकाल ली जाँय जो हिंदुस्तान तथा अन्य निकटवर्ती देशों में पाई जाती हैं तो बहुत ही कम ऐसी जातियाँ रह जाँयगी जिनमें कोई न कोई विशेष गुण पाया जाता हो। उनमें भी बहुत सी स्थानीय हैं और प्रायः वे भी दो या तीन वृक्षों तक में ही पाई जाती हैं। अतएव साधारण रूप से यह कहा जा सकता है कि हिंदुस्तान में विशेष प्रकार के वृक्ष नहीं हैं।

हिंदुस्तान में फूलदार वृक्षों की संख्या १७००० तक पहुँच गई है जो १७४ दर्जों में विभाजित किए गए हैं। इनके अतिरिक्त ६०० प्रकार के बिना फल फूलवाले पहाड़ी वृक्ष हैं। हिंदुस्तान में सब से ज़्यादह सुगंधित फूलवाले वृक्ष हैं। १६००० किस्में तो उनकी अब तक मालूम हो चुकी हैं और दिन दिन और भी मालूम होती जाती हैं।

तीन वनस्पति-क्षेत्र—वृटिश हिंदुस्तान में तीन वनस्पति-क्षेत्र हैं—१ हिमालय, २ पूर्वीय, ३ पश्चिमीय। यदि एक लकीर हिमालय से बंगाल की खाड़ी तक खींची जाय

तो पूर्वीय और पश्चिमीय क्षेत्र स्थूल रूप से विभाजित हो सकते हैं। इन क्षेत्रों के विषय में मुख्य मुख्य बातें ये हैं। हिमालय क्षेत्र में गर्म, समथल और पहाड़ी ज़मीन पर पैदा होनेवाले बहुत वृक्ष हैं तथा सर्व, देवदार वग़ैरह के जंगल और नाना प्रकार के बलूत और फूलदार वृक्ष बड़ी अधिकता से पाए जाते हैं। पूर्वीय क्षेत्र में पहाड़ी वृक्ष बिलकुल नहीं हैं। यहाँ समथल के वृक्ष हैं, परंतु वे भी कम हैं। थोड़े से देवदार वग़ैरह के वृक्ष हैं परंतु खजूर, शाह बलूत और फूलदार वृक्ष बहुत ज़्यादह हैं। पश्चिमीय क्षेत्र में देवदार वग़ैरह की केवल एक क़िस्म है और वह भी देशीय है। खजूर और फूलदार वृक्ष भी बहुत कम हैं। शाह बलूत बिलकुल ही नहीं है। हिमालय क्षेत्र में युरोप और साईबीरिया के, पूर्वीय क्षेत्र में चीन और मलाया के, और पश्चिमीय क्षेत्र में एशिया, युरोप तथा अफ़्रीका के वृक्ष बड़ी अधिकता से पाए जाते हैं। ये तीन वनस्पति-क्षेत्र नौ वनस्पति प्रदेशों में विभक्त हैं।

लंका प्रदेश—यद्यपि लंका पश्चिमीय हिंदुस्तान से स्थानापेक्षा इतनी निकट है और उसके वृक्ष भी उससे इतनी ही समानता रखते हैं जितनी मलाबार और दक्षिण के वृक्षों से, तथापि उसके वृक्ष इतने अधिक हैं कि वे हिंदुस्तान के वनस्पति-क्षेत्र में अपना पृथक् प्रदेश बनाए हुए हैं। लंका में देशीय फूलदार वृक्ष २८०० प्रकार के हैं और वे १४६ दर्जों में विभक्त हैं। पहाड़ी वृक्षों की भी २५७ किस्में हैं। इन २८०० में

से कम से कम एक तिहाई अर्थात् ८४० हिंदुस्तान में बिलकुल नहीं पाए जाते। इनमें से भी १६० हिंदुस्तान के अन्य प्रदेशों के हैं जिनमें से अधिकांश बरमा और मलाया के हैं। ७८० के लगभग स्वयं लंका के हैं।

बरमा प्रदेश—बरमा बनस्पति में बृटिश हिंदुस्तान से बहुत बढ़ा चढ़ा हुआ है, परंतु साथ ही बहुत कम लोग इससे परिचित हैं। इसके कारण ये हैं—(१) इसका क्षेत्र-फल बहुत बड़ा है। (२) इसकी जलवायु में बड़ी भिन्नता है। कहीं कहीं पर अत्यंत सरसता और कहीं कहीं पर अत्यंत शुष्कता है। (३) इसके पहाड़ों का सिलसिला बड़ा पेचीदा है। (४) इसकी ज़मीन में तरह तरह की खाद है और चट्टानें भी अनेक प्रकार की हैं। बरमा का अधिकतर भाग अभी हाल में ही बृटिश राज्य के अधिकार में आया है। अभी इसके अनेक देशों की बनस्पति दृष्टि से जाँच होनी बाकी है।

५—जंतु-विद्या।

जंतुओं की अधिकता—ब्रिटिश हिंदुस्तान में जानवरों की केवल संख्या ही अधिक नहीं है, किंतु उनकी जातियाँ भी बहुत ज्यादह हैं। मलाबार वा तनासेरिम की तर गर्म और सघन वृक्षों की पहाड़ियों तथा ऊपरी सिंध के उद्गम-क्षेत्र में लद्दाख के ठंढे बंजड़ मैदानों की जलवायु में पूर्ण रूप से भिन्नता है। वहाँ के जानवरों में भी जलवायु के समान महान् अंतर है। वे पशु, पक्षी, सर्प, बिच्छू तथा कीड़े मकोड़े जो बंगाल की खाड़ी के पूर्व की ओर घने जंगलों में तथा बरमा के किनारे दलदलों में रहते हैं जहाँ साल में १०० इंच से ज्यादह वर्षा होती है, सिंध और पंजाब के प्रायः सूखे रेगिस्तानों में कभी नहीं रह सकते। यद्यपि सूखे मुल्कों में जानवर बहुत कम हैं किंतु बरमा, आसाम, पूर्वीय हिमालय तथा मलाबार के तर जंगलों में वे बहुत ज़्यादह हैं। इस स्थानीय अधिकता तथा जलवायु की भिन्नता का यह असर है कि हिंदुस्तान तथा हिंदुस्तान के अधीनस्थ प्रदेशों में रहनेवाले जानवरों की जातियाँ बहुत ज़्यादह हैं, यहाँ तक कि संपूर्ण युरोप में भी जिसका बाह्य क्षेत्रफल हिंदुस्तानी राज्य से ड्योढ़े के बराबर है, इतनी जातियाँ नहीं पाई जातीं।

जानवरों के भेद और विभाग—निम्न-लिखित अंकों से रीढ़वाले जानवरों के उन भेदों प्रभेदों की संख्या प्रगट होती है जिनका Fauna of British India (सन् १८८८ से ९८) की ८ जिल्दों में वर्णन है। इन सूचियों में वे जानवर शामिल हैं जो हिंदुस्तान, बरमा तथा लंका में पाए जाते हैं।

जाति	भेद	प्रभेद
दूध पिलानेवाले जानवर	११५	४०१
पक्षी	५६३	१६१७
रेंगनेवाले जानवर	१४६	५३४
मेंडक जाति के जानवर	२४	१३०
मछलियाँ	३५१	१४१८

यद्यपि पीछे की जाँच से इनमें कुछ वृद्धि हुई है, किंतु यह विशेष कर मछलियों में ही हुई है। हिंदुस्तान में बिना रीढ़वाले जानवरों की संख्या बहुत ज़्यादह होने पर भी बहुत कम समूह ऐसे हैं जिनके विषय में ठीक ठीक अनुमान किया जा सकता है। केवल फतिंगों के ही विषय में लिखा है कि सन् १८९६ ई० तक उनके ५६१८ भेद मालूम हुए हैं। इसके पीछे भी सैकड़ों भेद मालूम हुए हैं। यहाँ पर केवल रीढ़वाले जानवरों का ही उल्लेख है। बिना हड्डीवाले जानवरों का वर्णन करने के लिये तो एक अलग ही ग्रंथ की आवश्यकता होगी।

दूध पिलानेवाले जानवर।

बंदर—हिंदुस्तान में बंदरों की संख्या बहुत ज़्यादह है। कुछ की गणना यहाँ के साधारण जंगली जानवरों में है। ऐसे बंदर जिनके पूँछ नहीं होती, आज कल हिंदुस्तान या हिमालय में नहीं पाए जाते, परंतु गिबन जाति के बंदर जो यद्यपि बहुत छोटे होते हैं, परंतु जिनके शरीर की बनावट गोरीला और बनमानुस की तरह मनुष्य के शरीर की बनावट से मिलती जुलती है, बरमा और आसाम में पाए जाते हैं। सामान्य बंदर जो उत्तरीय हिंदुस्तान में बंदर के नाम से ही प्रसिद्ध हैं, सर्वत्र पाए जाते हैं। हिंदुस्तान में अबतक ८, ६ प्रकार के बंदर मालूम हुए हैं। इनमें से लंबी पूँछवाले तथा छोटी पूँछवाले बंगाल के बंदर साधारणतः पाले जाते हैं। इनको ही सर्वत्र हिंदुस्तान में बाजीगर और मदारी लोग लिए फिरते हैं और इनसे तरह तरह के तमाशे कराते हैं। हिंदुस्तानी बंदरों की एक जाति लंगूरों या हनुमानों की है जिनके विषय में प्रसिद्ध है कि उन्होंने रावण के विरुद्ध लंका की चढ़ाई में महाराज रामचंद्र को सहायता दी थी। ये साधारण बंदरों से बड़े होते हैं और इनके बदन तथा पूँछ भी लंबी होती है। जब ये आमोद में कूदते फाँदते हैं तो एक प्रकार का सुस्वर और विनोदशील नाद करते हैं और जब इनको भय या क्रोध होता है, तब कर्कश, कंप्य शब्द करते हैं।

मांसाहारी जानवर—मांसाहारी जानवरों में वे जंगली चौपाए भी शामिल हैं जिनका कथाओं में ज़िक्र आता है। हिंदुस्तान में कुत्ते, बिल्ली, नेवले, अंगूप, गंधमार्जार, जलमार्जार तर्द, विज्जु, समूर, रीछ आदि जानवर मांसाहारी हैं। कम से कम १७ जाति की बिल्लियाँ हिंदुस्तान में पाई जाती हैं। बबर शेर पहले उत्तरीय पश्चिमीय तथा मध्य हिंदुस्तान के अधिकतर भागों में सर्वत्र पाया जाता था, परंतु अब जितने हिंदुस्तानी शेर बचे हैं वे केवल काठिया-वाड़ के गीर में पाए जाते हैं। यद्यपि शेरों की संख्या भी अब बहुत घट गई है तथापि वे अब तक हिंदुस्तान और बरमा के समस्त जंगली भागों में पाए जाते हैं। लंका में कोई ऐसा प्रमाण नहीं है जो इस बात को सिद्ध करे कि शेर दक्षिणीय हिंदुस्तान में अभी हाल में नहीं गए हैं अथवा उस समय वहाँ न थे जब लंका हिंदुस्तान महाद्वीप का भाग था। शेरों की अपेक्षा चीते अधिकतर स्थानों में पाए जाते हैं, परंतु घातक वे भी कुछ कम नहीं होते। वे बड़े शूर और निर्भय होते हैं और पानी के निकट रहने की परवाह नहीं करते। इसी से वे प्रायः चट्टानी पहाड़ियों और ग्रामों के पास बगीचों में पाए जाते हैं। अन्य बिल्लियों में मछलियों का शिकार करनेवाली बिल्लियां नदियों के किनारों पर तथा दलदलों में रहती हैं और विशेष कर मछलियाँ ही खाती हैं। तेंदुवा (बिल्ली की एक जाति) जंगली या पालतू भेड़ों और बकरियों को मारता

है। कई प्रकार की बिल्लियाँ हरी घास के मैदानों को पसंद करती हैं। शिकारी चीता हिंदुस्तान में कोई साधारण जानवर नहीं हैं। हज़ारों वर्षों से यह हरिणों के शिकार के लिये पाला जाता है। हरिणों को यह अपनी साधारण तेज़ चाल से बड़ी शीघ्रता से पकड़ लेता है।

गंधमार्जार (मुश्क बिलाव) की हिंदुस्तान में २१ क़िस्में हैं। इनमें से ८ नेवले जाति की हैं। नेवलों में सबसे प्रसिद्ध वही नेवला है जो सर्पों का कट्टर शत्रु है और जिसका हिंदुस्तानी किस्से कहानियों में इस कारण नाम प्रसिद्ध है कि इसको एक ऐसी जड़ी या बूटी मालूम है कि जो साँप की ज़हर को बिलकुल मार देती है। उस जड़ी को मंगुसबेल कहते हैं। कहते हैं कि नेवला ऐसा तेज़ और फुर्तीला होता है कि वह प्रायः अपने को साँप के ज़हरीले दाँतों से बचा लेता है और साँप को सिर से पकड़ लेता है, परंतु यदि इसे साँप काट ले तो यद्यपि इसी प्रकार के अन्य जानवरों की अपेक्षा उस पर देखने में बहुत कम विष का असर होता है, पर अंत में वह उसका शिकार बन ही जाता है।

दो प्रकार के भेड़िये, एक प्रकारके गीदड़, दो प्रकार के जंगली कुत्ते और पाँच प्रकार की लोमड़ियाँ, इन सब को कुत्ते की जाति में गिना जाता है। हिंदुस्तानी भेड़िये बड़े भयंकर होते हैं। अनेक प्रदेशों में वे बहुत सी भेड़ बकरियों को तथा अनेक बच्चों को उठा कर जंगल में ले जाते हैं। हिंदुस्तान के अनेक

भागों में लोग भेड़िये को मारने से बड़ी घृणा करते हैं। इसका कारण यह है कि उनका यह विचार होता है कि जहाँ कहीं भेड़िये का खून गिरेगा, उस ज़मीन में कुछ भी पैदा न होगा। हिंदुस्तानी गीदड़ यहां के क़स्बों और गाँवों का समार्जक (ख़ाकरोब) अर्थात् साफ़ करनेवाला समझा जाता है। यह सब प्रकार का अखाद्य मांस तथा मल उच्छिष्ट खा जाता है।

अन्य सस्तन जीव—दूसरी प्रकार के दूध पिलानेवाले जानवरों में छछूँदर, गंधमुखी, शल्यकंठ, सेह (खारपुश्त-एक काँटेदार चूहा) तथा उड़नेवाला लीनर हैं। सन् १८६१ई० में जब दूध पिलानेवाले जानवरों की संख्या प्रकाशित हुई थी, तो कम से कम ६५ प्रकार के चमगीदड़ हिंदुस्तान में पाए गए थे। उसके बाद २ या ३ प्रकार के और पाए गए हैं। इनमें ११ प्रकार के चमगीदड़ तो केवल फल खाते हैं और जो बहुत बड़े होते हैं उनको उड़नेवाली लोमड़ियां कहते हैं।

दाँत से चबानेवाले छोटे छोटे जानवरों का एक दूसरा समूह है। उसमें गिलहरी, कट्टी, तरह तरह के चूहे, सेह, ख़रगोश आदि जानवर हैं। इनमें विशेष बात यह होती है कि इनके हर एक जबड़े के सामने छेनी की शकल के दो बड़े काटनेवाले दाँत होते हैं। सन् १८६१ ई० में इस प्रकार के १०६ जानवर हिंदुस्तान में मिले थे। उसके बाद अब तक ७ प्रकार के और मिल चुके हैं। इस हिसाब से दूध पिलानेवाले जानवरों में चौथाई से ज़्यादह जानवर केवल इसी जाति के हैं।

तीसरी जाति के दूध पिलानेवाले जानवर वे हैं जिनके खुर होते हैं। इस प्रकार के जानवर हाथी, घोड़े, ऊँट, बैल, गैंडे, मृग, कुरंग, भेड़, बकरी, सुअर वगैरह हैं। इस प्रकार के जानवरों की कितनी ही जातियाँ अब हिंदुस्तान से सर्वथा नष्ट हो गई हैं। दरियाई घोड़े वगैरह कितने ही जानवर अब हिंदुस्तान में नहीं पाए जाते। जितने बहुमूल्य जानवर हैं, सब खुरवाले हैं।

दूध पिलानेवाली मछलियों में कई प्रकार की ह्वेल मछलियाँ और सूनमार हिंदुस्तान के गिर्द समुद्रों में पाई जाती हैं तथा इसी जाति की दो प्रकार की मछलियाँ किसी किसी बड़ी नदी में भी पाईजाती हैं। सिरेनियन (sirenians) में डूगांग (एक प्रकार की मछली जिसकी कुछ आदतें ह्वेल मछली जैसी होती हैं) पूर्वीय अफ्रीका से आस्ट्रेलिया तक हदसागर तथा मलाबार, लंका, अंडमन तथा मरगुई द्वीप के किनारों पर पाई जाती है।

दूध पिलानेवाले जानवरों की सब से पिछली जाति उनकी है जिनके दाँत नहीं होते। इस जाति में पेंगोलिन (pangolins) जानवर हैं जिनकी तीन क़िस्में हिंदुस्तान में पाई जाती हैं। सब बड़े बड़े महराबदार सींग के खपड़ों से ढँके हुए होते हैं। ये जानवर देखने में रेंगनेवालों से मिलते जुलते हैं। इनके दाँत नहीं होते और ये विशेष कर चींटियां खाते हैं।

चिड़ियाँ।

और जानवरों की अपेक्षा चिड़ियों का हिंदुस्तान में सब से अधिक संग्रह और ज्ञान हुआ है। सन् १८८१ ई० में जो हिंदुस्तान के जंतुओं का विवरण प्रकाशित हुआ था उसमें १६१७ प्रकार की चिड़ियाँ मालूम हुई थीं। उनमें ८३६ अर्थात् आधी से ज़्यादह चटक जाति की हैं। उस समय से अब तक ३० के क़रीब और इसी जाति की मालूम हुई हैं।

रेंगनेवाले जानवर।

हिंदुस्तान में दूध पिलानेवाले जानवरों की अपेक्षा रेंगने-वाले जानवरों की संख्या बहुत अधिक है। प्राणघातक भी ये ही अधिक हैं। तमाम जंगली जानवरों के काटने से इतने आदमी नहीं मरते जितने केवल साँप के काटने से मरते हैं। सन् १९०० ई० में जो हिसाब लगाया गया था उससे मालूम होता है कि १५३ प्रकार के रेंगनेवाले जानवर हैं और उनके ५५८ भेद हैं। ये जानवर तीन जातियों में विभक्त हैं—(१) मगर घड़ियाल। (२) कछुवे। (३) छिपकली और सर्प।

मगर घड़ियाल—हिंदुस्तान में तीन प्रकार के मगर घड़ियाल पाए जाते हैं। दो प्रकार के घड़ियालों की चौड़ी थुथड़ी होती है और उनको मगर कहते हैं। तीसरी प्रकार के घड़ियालों की लंबी थुथड़ी होती है और उनको घड़ियाल ही कहते हैं। हिंदुस्तान, बरमा तथा लंका की प्रायः हर एक नदी,

झील तथा बड़े बड़े तालाबों में मगर पाया जाता है। उत्तरी हिंदुस्तान में यह जानवर मगर नाका के नाम से प्रसिद्ध है। यह लंबाई में १२ फुट से ज़्यादह नहीं होता। बड़े बड़े घड़ियाल जो हिंदुस्तान और बरमा की खाड़ियों तथा बड़ी बड़ी नदियों में पाए जाते हैं और जो समुद्र में प्रायः देखने में आते हैं, दूसरी जाति के हैं। उनका विस्तार बहुत बड़ा होता है। वे ३० फुट से भी अधिक लंबे होते हैं। इस प्रकार के बड़े घड़ियाल बंगाल की खाड़ी तथा ट्रावनकोर और कनानोर में रासकुमारी के पश्चिम में पाए जाते हैं। उत्तर पश्चिम में आगे बढ़कर इनका पाया जाना अभी तक पूर्ण रूप से निश्चित नहीं है। यह बात अभी तक अनिश्चित है कि कौन सी जाति का घड़ियाल इंडस डेल्टा में पाया जाता है, परंतु यह बात निश्चित है कि छोटी जाति का घड़ियाल अर्थात् मगर या नाका कराँची के पश्चिम में मगरपीर में तथा बिलोचिस्तान में पाया जाता है। नाका की थुथड़ी जितनी चौड़ी होती है, उससे ड्योढ़ी से कुछ कम लंबी होती है और घड़ियाल की थुथड़ी जितनी चौड़ी होती है उससे ड्योढ़ी से ज़्यादह लंबी होती है।

घड़ियाल केवल मछलियाँ खाता है। यह तालाबों, दलदलों अथवा छोटी छोटी नदियों में कभी नहीं रहता। यह गंगा, सिंधु, ब्रह्मपुत्र तथा उनकी बड़ी बड़ी शाखाओं में पाया जाता है। उड़ीसा की महानदी में तथा अराकान की कला-

हैं। सब से साधारण मेंढक वह है जो छोटा सा होता है और जो सर्वत्र तालाबों और दलदलों में पाया जाता है। जहाँ ज़रा कुछ आहट होती है,मेंढक किनारे से पानी में फुदक जाता है। वर्षा ऋतु में ये मेंढक जहाँ ज़रा गीली ज़मीन हुई वहीं पैदा हो जाते हैं। मदरास का चूनम मेंढक भी हिंदुस्तान और लंका में बहुत प्रसिद्ध है। इस मेंढक में विशेष बात यह होती है कि यह अपने हाथों और पैरों की उँगलियों को फैला सकता है जिससे यह ऊँचे लंबे पेड़ों और चट्टानों पर चढ़ जाता है। एक प्रकार का मेंढक और होता है जो बरमा और हिंदुस्तान में सर्वत्र पाया जाता है। यह बहुत उँचाई तक हिमालय पर चढ़ जाता है। करीब १५ प्रकार के मेंढक हिंदुस्तान में पाए गए हैं। पूँछवाले मेंढकों में जिनमें पानी की छिपकलियाँ तथा समंदर होते हैं केवल एक ही प्रकार के हिंदुस्तान में पाए जाते हैं। केसीलियन मेंढक जो कीड़े की शकल के होते हैं और जो ज़मीन में बिल बनाकर रहते हैं, हिंदुस्तान में बहुत कम हैं, परंतु उनकी क़िस्में प्रायः अधिक पाई जाती हैं। १६ जातियों में से ३ जाति के मेंढक तथा उनके ५ भेद बृटिश हिंदुस्तान में पाए जाते हैं। केवल दो प्रकार के इंडो-मलाया प्रदेश के अन्य भागों में पाए जाते हैं।

मछलियाँ।

बृटिश इंडिया के जानवरों के विषय में जो सन् १८८६ ई० में मिस्टर डे की दो जिल्दें प्रकाशित हुई हैं, उनमें ३५१ जाति

की मछलियाँ लिखो हैं तथा उनके १४१८ भेद किए हैं। इनमें ८६ जातियाँ तथा उनके २०० भेद मिस्टर एलकाक ने सन् १८८६ ई० में और शामिल किए हैं। इसके पश्चात् भी अनेक प्रकार की नवीन मछलियों की खोज हुई है। ७६ जातियों तथा ३६१ प्रकार की मछलियाँ ताज़े पानी की नदियों, तालावों और दलदलों में पाई जाती हैं। इसी प्रकार मछलियों का एक दूसरा बड़ा समूह खारे पानी की खाड़ियों में पाया जाता है। कुछ मछलियाँ कुछ दिनों तक तो समुद्र में रहती हैं और फिर ताज़े पानी में चली जाती हैं। हिंदुस्तान में ऐसी मछलियों की संख्या बहुत कम है; यद्यपि उनमें से कुछ खाने के लिये बड़ी उत्तम हैं।

हिंदुस्तान की मछलियाँ दो भागों में विभक्त हैं—(१) कुरकुरी हड्डीवाली, (२) हड्डीवाली। पहली प्रकार की मछलियों में सेली, डागफिश और स्केट मछली है। ये मछलियाँ हिंदुस्तान के समुद्रों में अधिकता से पाई जाती हैं। कम से कम एक बड़े बड़े प्रकार का सेली और एक या अधिक प्रकार की रे मछली दरियाओं में ज्वार भाटे की सीमा से भी ऊपर चढ़ जाती है। सेली तथा रे मछली दोनों प्रकार की मछलियों के सुखाए हुए पर चीन में ले जाए जाते हैं और कुछ मछलियों का मांस ग़रीब लोग खाते हैं तथा उनके जिगर से तेल भी निकाला जाता है जिसकी तिजारत होती है। अधिकतर मछ-

लियाँ हड्डीवाली हैं। इनमें और करकरी हड्डीवाली मछलियों में यही अंतर होता है कि इनके शरीर में विशेष कर रीढ़ में विशेष रूप से हड्डियाँ होती हैं।

६—नृवंश-विद्या तथा जाति।

नृवंश-विद्या की स्वीकृत सामग्री—वर्तमान नृवंश विद्या भिन्न भिन्न प्रकार के मनुष्यों को उनके भिन्न भिन्न स्वभावों, चिह्नों वा लक्षणों की अपेक्षा इस आशा से निरूपण करने तथा श्रेणीबद्ध विभक्त करने का उद्योग करती है कि जब यथेष्ट सामग्री प्राप्त हो जाय तब किसी अंश तक स्वयं उनका कारण मालूम करने तथा उन भागों और अवयवों को निश्चित करने में जिन से वे बने हैं, सरलता हो और इस प्रकार उनका मनुष्य जाति के किसी न किसी बड़े वंश के साथ संबंध निर्णीत हो सके। हिंदुस्तान में जहाँ ऐतिहासिक सामग्री बहुत कम प्राप्त हैं, स्वीकृत सामग्री को तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं—(१) शारीरिक आकृति, (२) भाषा चिह्न, (३) धार्म्मिक और सामाजिक प्रथाएँ। इनमें प्रथम अर्थात् शारीरिक आकृति ही सबसे अधिक विश्वास के योग्य है।

अनिर्दिष्ट शारीरिक चिह्न—यहाँ पर; शारीरिक चिह्नों के दो भेद किए जा सकते हैं—(१) अनिर्दिष्ट जिसका न्यूनाधिक उपयुक्त भाषा में वर्णन किया जा सकता है। (२) निर्दिष्ट जिसका ठीक ठीक माप तोल तक किया जा

सकता है। पहली जाति में ऐसी बातें हैं, जैसे त्वचा का रूप और रंग, नेत्रों का रंग, रूप और स्थान, बाल का रंग और प्रकार तथा शरीर और चेहरे की बनावट। ये लक्षण बड़े व्यक्त और विशिष्ट हैं, अतएव इनका अवलोकन करना, लक्षित करना तथा लिखना बड़ा कठिन है। रंग जो सब में विचित्र है, सब से अधिक धोखे में डालनेवाला है।

निर्दिष्ट शारीरिक चिह्न—जब हम निर्दिष्ट शारीरिक चिह्नों की ओर ध्यान देते हैं तो हम अपने को दृढ़ स्थान पर पाते हैं। शरीर-व्यवच्छेद विद्या के प्रारम्भ काल में स्वभावतः विद्यार्थियों का ध्यान विशेष कर कपाल या खोपड़ियों के निरीक्षण या अनुसंधान में लगता था। इस अनुसंधान से जीवित पदार्थों की नाप लेना शुरू हुआ और उसी समय से अब तक अनेक जिज्ञासु और अन्वेषक नाप लेते रहे हैं। खर्परविद्या की अपेक्षा जो केवल कपाल या खोपड़ियों का निरूपण करती है, शरीरविद्या जो जीवित मनुष्यों का विवेचन करती है, विशेष उपकारी है। उपलब्ध विषयों की संख्या प्रायः अपरिमित है। उनके नाप प्रायः इतने बड़े पैमाने पर लिए जा सकते हैं कि केवल नापनेवाले का जातीय समीकरण ही नहीं निकलता किंतु रक्त के संपर्क या संयोग से होनेवाले नैमित्तिक भेद विकार भी प्रगट हो जाते हैं, तथा अनुसधान केवल सिर के विषय में ही नहीं होता, किंतु अन्य अवयवों के नाप तोल के विषय में

भी होता है। इनके अतिरिक्त एक और लाभ यह है कि जिनको नापा जाता है, उनकी अनन्यता के विपय में कोई शंका नहीं रहती। हिंदुस्तान में वैज्ञानिक शरीर-विद्या सन् १८८६ ई० में शुरू हुई थी।

हिंदुस्तान में सात प्रकार के कुल वा वंश— ऊपर लिखी बातों से हम हिंदुस्तान के आदमियों को निम्न-लिखित मुख्य ७ भागों में विभाजित कर सकते हैं—

१. तुर्क-ईरानी—जिसमें बिलोचिस्तान तथा पश्चिमीय सीमावर्ती प्रांत के बिल्लोच, बराहुई तथा अफ़ग़ान शामिल हैं।

२. इंडो-आर्य—जिसमें राजपूत, खत्री और जाट लोग है और जो पंजाब, राजपुताना और काश्मीर में रहते हैं।

३. सीदियो-द्राविड़—जिसमें मरहट्टा ब्राह्मण, कुंनबी तथा पश्चिमीय हिंदुस्तान के कुर्ग लोग हैं।

४. आर्य-द्राविड़ या हिंदुस्तानी—जो संयुक्तप्रांत, बिहार तथा राजपुताने के कुछ भागों में पाए जाते हैं और जिनमें उच्च जातियों में तो हिंदुस्तानी ब्राह्मण और नीच जातियों में चमार हैं।

५. मंगोली द्राविड़ या लोअर बंगाल तथा उड़ीसा के बंगाली जिनमें बंगाली ब्राह्मण, कायस्थ, पूर्वीय बंगाल के मुसलमान तथा अन्य जाति के लोग शामिल हैं।

६. हिमालय, नेपाल, आसाम तथा बरमा के मंगोल—जिनमें लाहुल और कुलू के कनेत, दारजिलिंग और शिकम के

लेपचा, नेपाल के लिंवू, मुरमी और गुरूंग, आसाम के बोदो और बरमा के लोग हैं।

७. द्राविड़—जो लंका से लेकर गंगा की घाटी तक फैले हुए हैं और मद्रास, हैदराबाद, मध्य प्रांत, छोटा नागपुर तथा मध्य हिंदुस्तान के अधिकतर भागों में पाए जाते हैं। मलाबार के पनयन तथा छोटा नागपुर के संताल लोग बिलकुल इस प्रकार के हैं। संभवतः द्राविड़ लोग इन सातों वंशों में सब से प्राचीन हैं। नाटा पस्ता क़द, स्याह खाल, लंबा सिर, चौड़ी चपटी नाक तथा लंबी बाँह, इन बातों के कारण ये प्रसिद्ध हैं। *ये बातें शेष हिंदुस्तानियों में नहीं पाई जातीं।*

इंडो-आर्यों की उत्पत्ति—इस जाति के लोगों में जो समानता पाई जाती है उसका एक कारण है। या तो यह कि ये लोग पंजाब के रहनेवाले थे या यह कि उत्तरीय पश्चिमीय सरहद के उस पार से ये सब मिल कर एक साथ हिंदुस्तान में आए या लगातार समूहों में आते रहे। पाश्चात्य विद्वान् इस बात में सहमत हैं कि इंडो-आर्य्य लोग विदेशी हैं। जिन युक्तियों द्वारा यह बात सिद्ध की जाती है वे सर्वथा भाषा से संबंध रखती हैं। अतएव हम यहाँ पर इस बात को मान लेते हैं कि इंडो-आर्य लोगों के पुरखा उत्तर पश्चिम से हिंदुस्तान में आए और उनके यहाँ पहुँचने के समय गंगा जमुना की घाटी तक हिंदुस्तान द्राविड़ लोगों के अधिकार में था।

परंतु वर्तमान इंडो-आर्य्य लोगों में द्राविड़ रक्त का कुछ भी अंश नहीं पाया जाता। अतः यह संभव है कि जब इंडो-आर्य्य लोग पंजाब में आए तो वे अपने साथ औरतों को भी लाए होंगे। सिवाय इसके और कोई कारण उनकी शुद्धता का नहीं हो सकता।

आर्य्य-द्राविड़—आर्य्य-द्राविड़ लोगों की उत्पत्ति के लिये हमको डाक्टर हारनेली की प्रतिज्ञा से बाहर जाने की ज़रूरत नहीं है। उनकी कल्पना के अनुसार इंडो-आर्य्य लोगों के पहले समूह ने पंजाब को ले लिया था तथा आर्य्यभाषा के बोलनेवालों का एक दूसरा समूह, जो वर्तमान आर्य्य-द्राविड़ लोगों का पुरुषा था किसी अन्य जाति के आगे बढ़ जाने के कारण अथवा जल वायु परिवर्त्तन करने के लिये गिलगिट और चित्राल के मार्गों से हिंदुस्तान में आया और मध्य देश अर्थात् गंगा जमुना के मैदान में स्थित रूप से रहने लगा। यहाँ उनका द्राविड़ लोगों से मेल हुआ और इस मेल के कारण जाति का प्रादुर्भाव हुआ तथा वेदों की रचना हुई और समस्त आचार व्यवहार और क्रिया कांड का उद्भव हुआ।

सामाजिक विभाग—वर्ग—अब तक हमने हिंदुस्तान के लोगों के भिन्न भिन्न वंशों का वर्णन किया है, परंतु अब उनके सामाजिक विभागों का उल्लेख करते हैं। ये विभाग वर्ग या जाति हैं। इनके भी विवाह आदि संबंध के कारण अनेक भेद प्रभेद हैं। हिंदुस्तान में कई कुटुंबों को अथवा

कुटुंबों के समूहों को जिनका एक सामान्य नाम होता है और जिससे उनके किसी कर्म-धर्म अथवा क्रिया-कृत्य का पता नहीं लगता, वर्ग कहते हैं। ये लोग अपने को किसी एक पैराणिक या ऐतिहासिक पूर्वज की संतान बताते हैं अथवा अपनी आदि उत्पत्ति कभी कभी किसी जानवर से बताते हैं। परंतु कहीं कहीं पर इनका संघटन, सबांधवता की अपेक्षा सगोत्री झगड़े से अधिक होता है। ये प्रायः एक ही भाषा बोलते हैं और एक ही प्रदेश में रहते हैं। परंतु इनमें यह आवश्यक नहीं है कि वे शादी-विवाह अपने ही वर्ग में करें।

वर्ग के भेद—हिंदुस्तान के भिन्न भिन्न भागों में भिन्न भिन्न वर्ग हैं। द्राविड़ लोग अपने पूरे जथे में छोटे नागपुर में रहते हैं। ऐसे वर्ग प्रायः अनेक ऐसे समूहों में विभक्त होते हैं जो आपस में विवाह आदि नहीं करते। प्रत्येक का नाम किसी स्थानीय जानवर या पौधे पर होता है। मंगोल वर्ग जो नागा की पहाड़ियों में पाए जाते हैं, अनेक 'खेलों' में बटे हुए हैं। प्रत्येक खेल सजातीय लोगों का एक विवाह-संबंध-वर्जित समूह होता है जो सबसे अलग निज प्रदेश में रहता है और शेष लोगों से सदा लड़ता रहता है। तुर्की-ईरानियों में दो भिन्न भिन्न प्रकार की जातियाँ मालूम होती हैं। पहली जाति बांधवता पर निर्धारित है जैसे पठान लोग अथवा पश्तो-भाषी। दूसर जाति बांधवता पर नहीं किंतु सगोत्री झगड़ों पर निर्धारित है।

जाति का लक्षण—कई कुटुंबों को अथवा कुटुंबों के अनेक समूहों को, जिनका एक ही सामान्य नाम होता है, और जिससे उनके कार्य्य विशेष का भी पता लगता है, जाति कहते हैं। ये लोग भी किसी मानुषी या दैवी पूर्वज से अपनी उत्पत्ति बताते हैं और एक ही प्रकार से जीविका निर्वाह करते हैं। जिस जाति का जो मनुष्य होता है उसको उसी जाति में निर्वाह करना होता है। जाति को एक बड़ी परिधि समझना चाहिए और उसके अंतर्गत अनेक छोटी छोटी परिधियाँ होती हैं जिनको उपजातियाँ कहना चाहिए। उपजातियों को अपने ही में शादी विवाह करना होता है। एक उपजातिवाला दूसरी उपजातिवाले से विवाह नहीं कर सकता, केवल अपनी ही उपजाति में कर सकता है। अतएव आज कल यही कहना काफ़ी नहीं है कि *ब्राह्मण उस स्त्री से* शादी नहीं कर सकता जो ब्राह्मणी नहीं है किंतु यह भी कि जिस स्त्री से शादी की जाती है वह भी उसी उपजाति की हो। जैसे सर्यूपारी ब्राह्मण सर्यूपारी ब्राह्मण की कन्या से ही शादी कर सकता है, मैथिल या गौड़ ब्राह्मण की कन्या से नहीं।

वर्गों का जातियों में परिवर्त्तन—वर्तमान काल में सारे हिंदुस्तान में वर्ग धीरे धीरे अव्यक्त रूप से जातियों का रूप धारण करते जा रहे हैं। इसमें कल्पना मुख्य रूप से कार्य्य कर रही है जिसके अनुसार जो काम आज हो रहा

है वह सदैव से ऐसा ही होता आ रहा है। जहाँ तक वर्तमान काल में दृष्टि पसार कर देखा जाता है इस आंदोलन में अनेक भिन्न भिन्न प्रकार के क्रम भिन्न भिन्न स्थानों में स्वतंत्र रूप से काम कर रहे हैं।

१. किसी प्राचीन वर्ग के मुखिया आदमी किसी तरह संसार में प्रसिद्धि पाकर तथा स्वाधीन जमींदार बनकर अपने को उच्च कुलीन जातियों में गिनने लगते हैं और राजपूत कहने लगते हैं।

२. बहुत से प्राथमिक पुरुष अपने वर्गीय नाम को मिटा कर किसी हिंदू धार्म्मिक पंथ के अनुयायी हो जाते हैं और शैव, वैष्णव या रामनंदी बन जाते हैं।

३. प्राचीन निवासियों का एक संपूर्ण वर्ग अथवा उसके बहुत से आदमी अपने को राजवंशी कहने लगते हैं। यद्यपि यह जाति अपने को बहुत प्राचीन बताती है, तथापि इसके नाम से इसमें और अन्य जातियों में बहुत भेद मालूम होता है।

४. पहले लोगों का संपूर्ण वर्ग अथवा वर्ग का एक भाग धीरे धीरे हिंदू धर्म को ग्रहण कर लेता है और अपने वर्गीय नाम को छोड़ देता है।

ऐसे उपायों से तथा अनेक पेचदार सामाजिक प्रभावों से जिन का ठीक ठीक पता नहीं लग सकता, अनेक प्रकार की भिन्न जातियाँ बन गई हैं जिनको निम्नलिखित वर्गों या समूहों में सम्मिलित कर सकते हैं।

१. वर्गीय जाति—जैसे पश्चिमीय बंगाल के भूमिज वर्ग ने अव्यक्त रूप से जाति का नाम ग्रहण कर लिया है।

२. वृत्तिरूप जाति—प्रायः प्रत्येक जाति की भिन्न भिन्न प्रकार की जीवनवृत्ति है। जिसने जो वृत्ति की उसी की एक पृथक् जाति हो गई। इस प्रकार कितनी ही जातियाँ बन गईं।

३. धार्मिक जातियाँ—इसमें केवल वे थोड़ी सी जातियाँ हैं जिन्होंने धर्म्मिक क्रियाओं का करना अपना जीवनोपाय बना रक्खा है।

४. संकर जातियां—जो दो भिन्न भिन्न जातियों के संसर्ग से बनीं।

५. राष्ट्रीय जातियाँ—जिस देश में न तो कोई राष्ट्र है, न राष्ट्रीय विचार हैं, उसमें राष्ट्रीय जाति का उल्लेख करना सर्वथा अयुक्त और असत्य मालूम होता है। तथापि कुछ समाज ऐसे हैं जो आज कल जातियाँ समझे जाते हैं, परंतु जिनको अपने प्राचीन गुण गौरव और राजविभव का अभिमान है और जिनमें प्राचीन समाज और संगठन के अब तक चिह्न पाए जाते हैं। यदि महाराष्ट्र लोगों की जाति में गणना है तो उनका इतिहास और उनके परंपरागत आचार उनको अवश्यमेव राष्ट्रीय जाति में शामिल करते हैं।

६.—वे जातियाँ जो देशांतर गमन से बन गईं।

है वह सदैव से ऐसा ही होता आ रहा है। जहाँ तक, वर्तमान काल में दृष्टि पसार कर देखा जाता है इस आंदोलन में अनेक भिन्न भिन्न प्रकार के क्रम भिन्न भिन्न स्थानों में स्वतंत्र रूप से काम कर रहे हैं।

१. किसी प्राचीन वर्ग के मुखिया आदमी किसी तरह संसार में प्रसिद्धि पाकर तथा स्वाधीन जमीदार बनकर अपने को उच्च कुलीन जातियों में गिनने लगते हैं और राजपूत कहने लगते हैं।

२. बहुत से प्राथमिक पुरुष अपने वर्गीय नाम को मिटा कर किसी हिंदू धार्म्मिक पंथ के अनुयायी हो जाते हैं और शैव, वैष्णव या रामनंदी बन जाते हैं।

३. प्राचीन निवासियों का एक संपूर्ण वर्ग अथवा उसके बहुत से आदमी अपने को राजवंशी कहने लगते हैं। यद्यपि यह जाति अपने को बहुत प्राचीन बताती है, तथापि इसके नाम से इसमें और अन्य जातियों में बहुत भेद मालूम होता है।

४. पहले लोगों का संपूर्ण वर्ग अथवा वर्ग का एक भाग धीरे धीरे हिंदू धर्म को ग्रहण कर लेता है और अपने वर्गीय नाम को छोड़ देता है।

ऐसे उपायों से तथा अनेक पेचदार सामाजिक प्रभावों से जिन का ठीक ठीक पता नहीं लग सकता, अनेक प्रकार की भिन्न जातियाँ बन गई हैं जिनको निम्नलिखित वर्गों या समूहों में सम्मिलित कर सकते हैं।

नहीं करता कि विजित पुरुषों को भी विवाह आदि के संबंध में समान स्वत्व प्राप्त हैं। एक बेर हिंदुस्तान में इस सिद्धांत के प्रचलित होने पर यह बात चल निकली कि जो आदमी भिन्न भाषा बोलते हैं, भिन्न प्रदेशों में रहते हैं, भिन्न देवी देवताओं को पूजते हैं, भिन्न खाना खाते हैं, जिनके रीति रिवाज भिन्न हैं, जो भिन्न पेशों को करते हैं, उनका रक्त भी ऐसा भिन्न है कि उनके साथ विवाह संबंध करने का विचार न करना चाहिए।

हिंदुस्तान में कुछ बातें विशेष रूप से पाई जाती हैं, जैसे सत्य घटनाओं को अस्थिर रूप से ग्रहण करना, कार्य की ओर विशेष लक्ष्य न देना, केवल कल्पनाएँ करते रहना, पौराणिक और कल्पित बातों में विशेष श्रद्धा रखना, अनंत भेदों प्रभेदों की तीव्र इच्छा रखना, सिद्धांत को तोड़ मरोड़ कर मनमाना नतीजा निकालना, चाहे जिस प्रकार के सामाजिक विचारों और प्रथाओं की नकल करना और उनको ग्रहण कर लेना—इन्हीं कारणों से हिंदुस्तान में जाति व्यवहार की बढ़ती और उन्नति हुई है। ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य और शूद्र, इन चार वर्णों का अवश्य किसी ज्ञानी ब्राह्मण ने आरंभ में प्रसार किया होगा। उसी का बाद में रामायण में उल्लेख किया गया जिसको सर्वसाधारण बड़े शौक़ से पढ़ते हैं। अब इस वर्णव्यवस्था का इतना प्रसार हो गया है कि हिंदू मात्र इसको प्रामाणिक मानता है।

कोई शब्द ही नहीं है तथा मनुष्यगणना में लाखों हिंदुस्तानियों की गिनती करते समय एक बड़ी भारी कठिनाई यह होती थी कि गणना का काम करनेवाले बरमी को 'जात, जाति' का अर्थ समझाना नितांत असंभव था। जाति हिंदुस्तानी शब्द है। बरमा में जाति का सर्वथा अभाव है। वहाँ के लोगों को इसका बोध कराना अथवा इस शब्द का परिचय देना भी कठिन है।

सामाजिक समूहों का विभाग—सन् १६०१ की मनुष्यगणना में जो २४०० के लगभग जातियाँ और वर्ग मालूम की गई थीं, उनका यहाँ पर विवेचन नहीं किया जा सकता। कुछ जातियाँ हिंदुस्तान में सब जगह फैली हुई हैं। उनकी संख्या डेढ़ करोड़ के क़रीब है। स्थानीय जातियों में बहुत सी जातियाँ माने हुए वर्ग हैं। भील, गोंड, कोल और संताल इसी वर्ग में हैं। डोम, दोसाध, गूजर, जाट, कैवर्त नामशूद्र (चांडाल), पोद, नायर, पाली, परिया, राजवंशी कोच उन वर्गों में से हैं जो अभी हाल में जातियाँ बन गए हैं और अबतक जिनमें वर्गीय उन्नति के चिह्न पाए जाते हैं।

जाति की उत्पत्ति—जिस सिद्धांत पर जाति बंधन अवलंबित है वह यह है कि वर्ण की भिन्नता से जाति की भिन्नता प्रगट हो। यद्यपि इसके अनुसार ज़बर्दस्त जाति को उन स्त्रियों के साथ जिनको उसने क़ैद कर लिया है, संबंध करने की मनाही नहीं है तथापि वह इस बात को स्वीकार

नहीं करता कि विजित पुरुषों को भी विवाह आदि के संबंध में समान स्वत्व प्राप्त हैं। एक बेर हिंदुस्तान में इस सिद्धांत के प्रचलित होने पर यह बात चल निकली कि जो आदमी भिन्न भाषा बोलते हैं, भिन्न प्रदेशों में रहते हैं, भिन्न देवी देवताओं को पूजते हैं, भिन्न खाना खाते हैं, जिनके रीति रिवाज भिन्न हैं, जो भिन्न पेशों को करते हैं, उनका रक्त भी ऐसा भिन्न है कि उनके साथ विवाह संबंध करने का विचार न करना चाहिए।

हिंदुस्तान में कुछ बातें विशेष रूप से पाई जाती हैं, जैसे सत्य घटनाओं को अस्थिर रूप से ग्रहण करना, कार्य की ओर विशेष लक्ष्य न देना, केवल कल्पनाएँ करते रहना, पौराणिक और कल्पित बातों में विशेष श्रद्धा रखना, अनंत भेदों प्रभेदों की तीव्र इच्छा रखना, सिद्धांत को तोड़ मरोड़ कर मनमाना नतीजा निकालना, चाहे जिस प्रकार के सामाजिक विचारों और प्रथाओं की नकल करना और उनको ग्रहण कर लेना—इन्हीं कारणों से हिंदुस्तान में जाति व्यवहार की बढ़ती और उन्नति हुई है। ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य और शूद्र, इन चार वर्णों का अवश्य किसी ज्ञानी ब्राह्मण ने आरंभ में प्रसार किया होगा। उसी का बाद में रामायण में उल्लेख किया गया जिसको सर्वसाधारण बड़े शौक़ से पढ़ते हैं। अब इस वर्णव्यवस्था का इतना प्रसार हो गया है कि हिंदू मात्र इसको प्रामाणिक मानता है।

७—भाषाएँ।

हिंदुस्तान की देशभाषाएं—हिंदुस्तान की भाषाएँ ५ भागों में विभक्त हैं—(१) आर्य्य, (२) द्राविड़ (३) मुंडा, (४) मोनखमेर, (५) तिब्बती-चीनी। हिंदुस्तान की सब से प्राचीन भाषा संभवतः मुंडा मालूम होती है और यदि हम प्राचीनता की दृष्टि से इसके क्रम को स्थिर करें तो सब से पहले हमें मुंडा भाषाओं का ही उल्लेख करना चाहिए, परंतु अनेक कारणों से हमें आर्य्यभाषाओं का पहले कथन करना पड़ता है। इसका मुख्य कारण यही है कि आर्य्य-भाषाओं ने हिंदुस्तान की सभ्यता पर बहुत प्रभाव डाला तथा आर्य्यभाषाओं के बोलनेवाले हिंदुस्तान में बहुत अधिक हैं।

आर्य्यभाषाएं—आर्य्य लोगों का, जो युरोप तथा एशिया के दक्षिण पश्चिम में फैल गए, असली घर कहाँ था, इस विषय पर बहुत समय तक शास्त्र विवाद रहा। कुछ विद्वानों का कथन था कि वे काकेशस तथा हिंदुकुश पहाड़ पर रहते थे, कुछ कहते थे कि उत्तर-पश्चिमीय युरोप में उनका घर था, कितनों ही का यह मत था कि वे अरमीनिया तथा आमू और सर नदियों के निकटस्थ देशों में रहते थे। हाल में जो खोज हुई है उससे यह सिद्ध होता है कि वे युरोप तथा एशिया के किनारे पर कहीं दक्षिणीय रूस के मैदानों में रहते

थे। यहाँ वे भेड़ बकरियाँ चराया करते थे। पीछे कुछ खेती भी करने लगे थे। यहाँ से वे पूर्व और पश्चिम को फैले।

भाषा की दृष्टि से ये लोग सब से पहले दो भागों में विभक्त हुए—(१) सेंटम-भाषी (२) शतं-भाषी। पहले लोग अर्थात् सेंटमभाषी जिन्होंने आरंभ में १०० के लिये ककार आदि शब्द ग्रहण किए पश्चिम की ओर चले गए। उनके विषय में हमें कुछ नहीं कहना है। हाँ पिछले लोग जिन्होंने इसी भाव को ऊष्म वर्णादि शब्दों द्वारा प्रगट किया, अधिकतर पूर्व की ओर चले आए। उन्हीं की भाषा से आर्य्य, आरमीमियन फ्रीजियन, थ्रेसियन, इलिरियो-अलबेनियन तथा वाल्टो-सैल-वोनिक भाषाएँ निकली हैं। हम को यहाँ पर केवल आर्य्य भाषाओं के विषय में विवेचन करना है।

इन शत-भाषियों की एक जाति जो अपने को आर्य कहती थी, पश्चिम की ओर चली गई। वहाँ वह आमू और सर नदियों के किनारों पर के प्रदेशों में रहने लगी। जहाँ तक अनुमान किया जाता है, खीवा का रम्य स्थान उनका मुख्य केंद्र रहा है। वहाँ से वे इन्हीं नदियों के मार्ग से खोकंद और बदख़शाँ के पहाड़ी देशों में चले गए। अब तक वे सब इकट्ठा रहते थे, परंतु अब यहाँ आकर वे दो भागों में विभक्त हो गए। कुछ दक्षिण की ओर हिंदूकुश के पार काबुल की घाटी में और पीछे से हिंदुस्तान में आ गए और कुछ पामीर और मर्व तथा पूर्वीय ईरान की ओर पूर्व और पश्चिम को चले

गए। विभाग हो जाने के बाद सामान्य आर्य्य भाषा ने दो भिन्न भिन्न रूप धारण किए। एक ओर तो इससे इंडो-आर्य्य भाषाओं की उत्पत्ति हुई और दूसरी तरफ़ ईरानी भाषाओं की।

इंडो-आर्य्य भाषाएं—इंडो-आर्य्य लोगों के पश्चिम से काबुल की घाटी में से होकर पूर्व की ओर चले जाने के विषय में यह नहीं माना जाता कि यह देशांतरनिवास एकदम हो गया वरन् इसमें सैकड़ों वर्ष लगे। धीरे धीरे सैकड़ों वर्षों तक ये लोग आते रहे। पीछे से जो आए उनका संभवतः अपने पूर्वजों से मेल नहीं हुआ। वे बिलकुल नई भाषा बोलते थे और यहाँ के लोगों की भाषा यहाँ बहुत दिन तक रहते रहते दूसरी हो गई थी, इस कारण इन्होंने, जहाँ तक अनुमान किया जाता है, मेल की जगह उलटा उनका विरोध किया और उनको एक प्रकार के आगंतुक और अनाहुक प्रवेशक समझा। सब से प्रारंभिक समय में जिसका हमें कुछ ज्ञान है पंजाब में अनेक इंडो-आर्य्य जातियाँ रहती थीं। सब में आपस में एक दूसरे से विरोध था। एक का दूसरा शत्रु था, यहाँ तक कि एक जाति के मनुष्य दूसरी जाति के मनुष्यों को मूर्ख गँवार कहा करते थे।

संस्कृत भूगोल में हिंदुस्तान दो भागों में विभक्त है। उनमें से एक भाग मध्य देश है। इस मध्य देश में ही इंडो-आर्य्य लोग रहते थे। यहीं उनका असली घर था। इस

विषय का संस्कृत ग्रंथकर्त्ताओं ने बार बार उल्लेख किया है। उनकी दृष्टि में शेष हिंदुस्तान न्यूनाधिक मूर्ख और असभ्य था। यह मध्य देश उत्तर में हिमाचल से दक्षिण में विंध्याचल तक, पश्चिम में सरहिंद और पूर्व में गंगा-जमुना के संगम तक फैला हुआ था।

आज कल की अवस्था इस प्रकार है। गंगा के दवाबे में तथा उसके निकटस्थ उत्तरीय पश्चिमीय प्रदेश में मध्यदेशीय इंडो-आर्य्य भाषा प्रचलित है। इसके तीन तरफ़ पूर्वीय पंजाब, गुजरात, राजपूताना और अवध में तथा दक्षिण में बुंदेलखंड और छत्तीसगढ़ में अनेक मिश्रित भाषाएँ हैं। इनसे परे फिर एक बाह्य भाषाओं का समूह है जो काश्मीर, पश्चिमीय पंजाब, सिंध, मरहटा देश, उड़ीसा, बिहार, बंगाल और आसाम में प्रचलित हैं। इनके अतिरिक्त मध्यदेश के उत्तरस्थ हिमालय की अनेक इंडो-आर्य्य भाषाएं हैं। ये भाषाएँ भी बीच के समूह की हैं।

अतएव मध्य देशीय भाषाएं चारों तरफ़ से अनेक भाषाओं के चक्रमंडल से वेष्टित हैं।

इंडो-आर्य्य भाषाएँ—नीचे दी हुई सूची से वर्तमान इंडो-आर्य्य भाषाओं तथा उनके बोलनेवालों की संख्या मालूम होती है—

नाम	बोलनेवालों की संख्या [१९०१ में]	बोलनेवालों की संख्या [१९११ में]
१. मध्य देश की भाषा		
पश्चिमी हिंदी	४,०७,१४,९२५	१,४०,३७,८८२
२. बीच की भाषाएँ		
(क) मध्य देशीय भाषा से अधिक संबंध रखनेवाली		
राजस्थानी	१,०९,१७,७१२	१,४०,६७,५९०
पहाड़ी भाषाएँ	३१,२४,६८१	१७,३६,१७२
गुजराती	९८,३९,९२५	१,०६,८२,२४८
पंजाबी	१,७०,७०,९६१	१,५८,७६,७५८
(ख) बाह्य भाषाओं से अधिक संबंध रखनेवाली		
पूर्वीय हिंदी	२,२१,३६,३५८	२४,२३,३९२
बाह्य भाषाएँ		
(क) उत्तर पश्चिमीय समूह		
काश्मीरी	१०,०७,९५७	११,८०,६३२
कोहिस्तानी	३६	४८९३
लहंडा	३३,३७,९१७	४७,७९,१३८
सिंधी	३४,९४,९७१	३६,६९,९३५
(ग) दक्षिणीय भाषा		
मराठी	१,८२,३७,९९९	१,९८,०१,६३१

(ग) पूर्वीय समूह

बिहारी	३,४५,७६,८४४	३,६८,२६४
उड़िया	९६,८७,४२६	१,०१,६२,३२१
बंगाली	४,४६,२४,०४८	४,८३,६७,६१५
आसामी	१३,५०,८४६	१५,३३,८२२
जोड़	२१,६७,२५,५०६	१४,८७,३०,६२८

इनमें से पहाड़ी भाषाएं राजस्थानी भाषाओं से निकली है जो हिमालय में बोली जाती हैं। कोहिस्तानी भाषा में स्वात और इंडस कोहिस्तान की मिश्रित भाषाएं हैं।

हिंदी—अँग्रेज़-लेखक हिंदी शब्द का बड़ी स्वतंत्रता से प्रयोग करते हैं। हिंदी के वास्तविक अर्थ हिंदुस्तानी के हैं। प्रत्येक हिंदुस्तानी भाषा के लिये इस का प्रयोग किया जा सकता है। कभी कभी युरोपियन लोग इसका एक हिंदुस्तानी भाषा विशेष के लिये प्रयोग करते हैं, परंतु अधिकतर इस शब्द का बिहारी, पूर्वीय हिन्दी तथा पश्चिमीय हिंदी इन तीनों भाषाओं की समस्त बोलियों के लिये जो बंगाल ख़ास और पंजाब के बीच में बोली जाती हैं, प्रयोग किया जाता है। यहाँ पर हिंदी से अभिप्राय केवल उस प्रकार की हिंदुस्तानी भाषा से है जो हिंदुओं की उस विद्वत्समाज की गद्यात्मक भाषा है जो उर्दू का प्रयोग नहीं करती। अँग्रेज़ी में हिंदी से तात्पर्य विशेषतया अवध और मध्य देश की भाषाओं

से है और नवीन परिभाषाओं के प्रयोग से बचने के लिये इनको यहाँ पर पूर्वीय हिंदी और पश्चिमीय हिंदी कहते हैं। ये बिलकुल दो भिन्न भिन्न भाषाएँ हैं।

पश्चिमीय हिंदी—अतः पश्चिमी हिंदी प्राचीन मध्यदेश की प्रचलित इंडो-आर्य्य भाषा है। हिंदुस्तान की भाषाओं में यह सर्वोपरि है। हिंदुस्तानी इस पश्चिमीय हिंदी की वह बोली है जिसका खास स्थान मेरठ के गिर्द ऊपरी गंगा के दबावे में है। दिल्ली इस भूमि प्रदेश की दक्षिणी सीमा के निकट है। यहाँ पर यह बोली सर्व साधारण में प्रचलित थी। यहाँ से मुग़ल राज्य के कर्म्मचारी इसको सर्वत्र हिंदुस्तान में ले गए। फ़ार्सी में इसका नाम उर्दू है। यह नाम उर्दूए मोअल्ला अर्थात् दिल्ली के राजमहल के बाहर के शाही लश्कर (कंपू) से लिया गया है जहाँ इस भाषा का जन्म हुआ। दक्खिन में भी जहाँ द्राविड़ भाषाओं का मुख्यतया प्रचार है, मुसलमान लोग उर्दू का बहुत अधिक प्रयोग करते हैं। दक्खिन में ही उर्दू साहित्य की उन्नति हुई है। पहली शताब्दी में उर्दू साहित्य बिलकुल पद्यात्मक था। गद्यात्मक उर्दू की उत्पत्ति अँग्रेज़ों के हिंदुस्तान लेने के कारण हुई तथा इस कारण से भी हुई कि अँग्रेज़ों को फोर्ट विलियम कालिज में कोर्स की किताबों की जरूरत पड़ी। हिंदुस्तानी भाषा के हिंदी गद्य का भी उसी समय कालिज के अध्यापकों ने प्रयोग किया। पश्चिमीय हिंदी की अन्य बोलियाँ बाँगड़ू, ब्रज

भाषा, कन्नौजी और बुँदेली हैं। भाषा की दृष्टि से पश्चिमीय और इसकी निकटवासिनी पूर्वीय हिंदी अँग्रेज़ी से कोमलता या मृदुता तथा विपुलता या पुष्कलता में समानता करती है। दोनों का विपुल शब्दभांडार है और दोनों में भावों और गुणवाचक शब्दों के प्रगट करने के लिये पूर्ण सामग्री है। दोनों के प्राचीन साहित्य में काव्य की ऊँची से ऊँची रचना पाई जाती है और दोनों में आदर्श भक्ति का अत्यंत रोचक और प्रिय शब्दों में विकास है।

राजस्थानी—राजपुताना जिसमें राजस्थानी भाषा बोली जाती है, अनेक राज्यों और जातियों में विभक्त है। यद्यपि प्रत्येक राज्य की पृथक पृथक बोली है तथापि राजपुताने की समस्त बोलियाँ वास्तव में एक ही भाषा के अंतर्गत हैं। पश्चिमीय बोली अर्थात् मारवाड़ी का सब से ज़्यादह महत्व है। मारवाड़ी लोग इसको सर्वत्र हिंदुस्तान में ले गए हैं। राजस्थानी बोलियों का मारवाड़ी बोली सब से अधिक प्रतिरूपक है। इसका साहित्य भी बड़ा विपुल है। यह एक विलक्षण रूप से लिखी जाती है। जिसको कभी महाजनों और साहूकारों के बही खातों के जाँचने का अवसर मिला है वह मुड़िया लिपि से अच्छी तरह परिचित होगा।

गुजराती—गुजराती पृथक रूप से लिखी जाती है। इसकी लिपि बिलकुल भिन्न है। प्राचीन काल से गुजरात में

साहित्य की उन्नति रही है। प्रचलित गुजराती भाषा का भी साहित्य उन्नतिशील है।

पंजाबी—पंजाबी बोली मध्य पंजाब में बोली जाती है और सिक्खों की भाषा है। इसके पश्चिम में ही लहंडा भाषा बोली जाती है, परंतु यह परिवर्तन क्रमशः हुआ है। प्रामाणिक पंजाबी भाषा वह है जो अमृतसर के आस पास बोली जाती है। मध्य देश से जिन भाषाओं का संबंध है, उनमें पंजाबी बिलकुल शुद्ध और निर्दोष है। इसमें फारसी या संस्कृत शब्द बिलकुल नहीं हैं। इस भाषा में बड़ा गुण यह है कि इसमें संपूर्ण भावों के प्रकाश करने की शक्ति है तथा अत्यंत मनोरम कमनीय रस है, जिससे इस भाषा के प्रयोग करनेवाले बलिष्ट कृषकों का जातीय स्वभाव प्रगट होता है।

पूर्वीय हिंदी—अवध, बघेलखंड की और मध्य प्रांत में छत्तीसगढ़ की भाषा पूर्वीय हिंदी है। इसका बहुत बड़ा इतिहास है। यह उस देश की भाषा है जिसमें श्रीरामचंद्र जी का जन्म हुआ था। जैनावतार श्री महावीर स्वामी ने इसी भाषा के प्राथमिक रूप का प्रयोग किया था। पूर्वीय हिंदी का साहित्य बहुत बढ़ा चढ़ा है। जहाँ तक अनुमान किया जाता है प्रचलित इंडो-आर्य भाषाओं में किसी भी भाषा का भांडार इतना भरा पूरा नहीं है। परंतु राज्य दरबार में उर्दू का अधिक प्रचार होने के कारण बहुत कम लोग इससे परिचित

है। केवल कुछ गिने चुने विद्वानों ने इसका अध्ययन किया है। यह भाषा ऐसी रम्य और मनोहारिणी है कि जिस किसी का इसमें एक बार प्रवेश हो जाता है उसका फिर कभी इसे छोड़ने का जी नहीं चाहता।

बंगाली – निज वासस्थान अर्थात् बंगाल में अन्य भाषाओं की अपेक्षा बँगला भाषा के बोलनेवाले बहुत ज्यादह हैं, परन्तु बँगला भाषा सब जगह एक सी नहीं है। इस भाषा की बोली में भेद स्थानीय नहीं है, किंतु ग्रंथ की भाषा और बोल चाल की भाषा में है। अर्थात् ग्रंथकारों की जो भाषा है वह दैनिक बोल चाल की भाषा से भिन्न है। ग्रंथ की भाषा बोल चाल में कभी नहीं आती। उच्च शिक्षा प्राप्त बंगाली भी अपनी बोल चाल में साधारण भाषा का प्रयोग करते हैं। ग्रंथ की भाषा की शैली उस समय से हुई जब गत शताब्दी के प्रारंभ में अँग्रेज़ी राज्य के प्रभाव से शिक्षा का उत्थान हुआ। उसी समय गद्यात्मक साहित्य की आवश्यकता हुई और इस पूर्ति का कार्य्य संस्कृत पंडितों के हाथ में आया। उन्होंने भाषा में यथासाध्य संस्कृत मिलाने का उद्योग किया। केवल क्रियाएँ देश भाषा की रहीं। इन्हीं महात्माओं की कृपा से १६ वीं शताब्दी के पहले ५० वर्षों में जिस प्रकार की भयंकर गद्य थी उससे अधिकतर भयंकर गद्य का इस समय ख्याल भी नहीं किया जा सकता। यद्यपि गत ५० वर्षों से इस संस्कृत मिश्रित भाषा को सुधारने का प्रयत्न किया जा रहा है, परन्तु

इसमें कुछ विशेष सफलता नहीं हुई है। ग्रंथ की भाषा ही बंगाल की राज्यभाषा है। इसी का पादरी लोग प्रयोग करते हैं और इसी की उन व्याकरणों में शिक्षा दी जाती है जो पाश्चात्य विद्यार्थियों के लिये लिखी गई हैं। स्वयं बंगाली लोग अपनी संस्कृत-मिश्रित ग्रंथ-भाषा को साधु भाषा कहते हैं, परंतु अपनी वास्तविक देशभाषा के लिये वे 'मधुर' विशेषण का प्रयोग करते हैं। यही वह मधुर भाषा है जिसको प्रत्येक लेखक चाहे हिंदुस्तानी हो चाहे अँग्रेज़ भुला रहा है। इस बात का साक्षी इतिहास है। प्राचीन काल में ग्रंथ की भाषा संस्कृत कहलाती थी, परंतु वास्तविक शुद्ध देशभाषा प्राकृत के लिये "अमिय" विशेषण का प्रयोग होता था।

द्राविड़ भाषाएँ—यद्यपि द्राविड़ जाति संपूर्ण हिंदुस्तान में फैली हुई है, परंतु इस जाति के संपूर्ण जन द्राविड़ भाषा नहीं बोलते। उत्तर में बहुत से द्राविड़ लोग बिलकुल आर्यों के सदृश हो गए हैं और उन्होंने उन्हीं की भाषा को ग्रहण कर लिया है। इसके अतिरिक्त द्राविड़ लोग ही प्रायः मुंडा तथा द्राविड़ ख़ास इन दो मुख्य भाषाओं के बोलनेवाले हैं। चूंकि इन दोनों भाषाओं के बोलनेवाले आकृति तथा शारीरिक रूप रंग में मिलते जुलते हैं, इस कारण से अनेक विद्वानों को यह बात सूझी कि इन दोनों भाषाओं में कुछ संबंध है, परंतु विशद रूप से खोज करने पर यह बात स्पष्ट हो गई कि यह केवल भ्रम है। वास्तव में ऐसा नहीं है। स्वर

संवाद रीति से या विभक्ति शैली से अथवा शब्दसंग्रह से—चाहे किसी भी दृष्टि से देखो द्राविड़ भाषा का मुंडा भाषा से कोई संबंध नहीं है। वे एक दूसरे से उदाहरण में, लिंग-प्रदर्शन में, संज्ञा में, विभक्ति लगाने में, क्रिया का कर्म्म से संबंध सूचित करने में, संख्या में, रूप में, गण के नियमों में, निषेध के प्रगट करने में तथा शब्दों में बिलकुल भिन्न भिन्न हैं। जिन बातों में वे मिलती हैं वे बातें केवल इन्हीं दो भाषाओं में नहीं किंतु संसार की अनेक भाषाओं में पाई जाती हैं।

अस्तु, हम इस बात को कि द्राविड़ लोग दो भिन्न भिन्न भाषाओं को बोलते हैं, नृवंश विद्या के ज्ञाताओं के लिये छोड़कर यहाँ केवल उन भाषाओं पर विवेचन करते हैं जिनको भाषातत्वज्ञ 'द्राविड़' कहते हैं। इनमें से अनेक दक्षिणी हिंदुस्तान या मध्य हिंदुस्तान के पहाड़ों में बोली जाती हैं। वे छोटे नागपुर तथा संताल परगने में चली गई हैं जहाँ उनका मुंडा भाषाओं के साथ साथ प्रचार है। एक जिसका नाम ब्राहूई है बहुत दूर पश्चिम में बिलोचिस्तान में प्रचलित है। संस्कृत लेखकों को इस भाषा का ज्ञान नहीं था। वे दक्षिणी हिंदुस्तान की दो बड़ी भाषाओं को जानते थे जो उनके समय में सर्वत्र दक्षिण में प्रचलित थीं। उनके नाम अंध्र भाषा तथा द्राविड़ भाषा थे। अंध्र भाषा वर्तमान तेलगू भाषा से और द्राविड़ भाषा शेष भाषाओं से मिलती जुलती थी। यह

प्राचीन विभाग वर्तमान देशभाषाओं के श्रेणी-विभाग से मिलता है, जो इस प्रकार है—

नाम.	बोलनेवालों की संख्या. [१९०१ में]	बोलनेवालों की संख्या. [१९११ में]
(क) द्राविड़ समूह		
तामिल	१,६५,२५,५००	१,८१,२८,३६५
मलयालम	६०,२९,३०४	६७,९२,२७७
कनाड़ी	१,०३,६५,०४७	१,०५,२५,७३९
कोदगू	३९,१९१	४२,८८१
तूलू	५,३५,२१०	५,६२,४५३
तोदा	८०५	७३०
कोट	१,३००	१,२८०
कुरुख	५,९२,३५१	८,००,३२८
मल्टो	६०,७७७	६४,८७५
(ख) बीच की भाषाएँ		
गोंड वगैरह	११,२३,९७४	१५ २७,१५७
(ग) आंध्र समूह		
तेलगू	२,०६,९६,८७२	२,३५,४२,८६१
कंध	४,९४,०९९	५,३०,४७६
कोलामी	१,५०५	२४,०७४
।) ब्राहुई	४८,५८९	१,७४,२२९
जोड़	५,६५,१४,५२४	८,२७,१८,७२५

मुंडा भाषाएँ—मुंडा भाषाएँ प्रायः कोलेरियन कहलाती हैं; परंतु यह नाम असत्य कल्पना के आधार पर है तथा भ्रमोत्पादक है। ये भाषाएँ उनमें से हैं जो हिंदुस्तान में बहुत समय तक बोली गई हैं और जो प्राचीन होने का दावा रखती हैं। ये भाषाएँ बड़ी लेसदार और जोड़दार हैं और यह गुण उनमें पूर्ण रूप से सुरक्षित हैं। प्रत्यय पर प्रत्यय लगाकर तथा निर्देश की सहायता पाकर शब्द बनाए गए हैं जिनमें संपूर्ण वाक्य के अर्थ निकलते हैं।

मुंडा भाषाओं का मुख्य वासस्थान छोटा नागपुर है, परंतु इनके बोलनेवाले निकटवर्ती बंगाल, उड़ीसा, मद्रास तथा मध्यप्रांत के ज़िलों में तथा बिहार के उत्तर में महादेव पहाड़ों पर पाए जाते हैं। इन भाषाओं की सूची इस प्रकार है—

नाम	बोलनेवालों की संख्या [१९०१ में]	बोलनेवालों की संख्या [१९११ में]
खेरवाड़ी	२७,८४,२६५	३३,५७,६६१
कुरकु	८७,६७५	१,३६,९०६
खड़या	१,०१,९८६	१,२६,५८३
जुआंग	१०,८५३	१२,३१३
सबरा	१,५७,१३६	१,६६,२८०
गदबा	३७,२३०	४३,४७७
जोड़	३१,७६,२७५	३८,४३,२२३

मुंडा भाषाओं की न कोई लिपि है और न कोई साहित्य ही है, वे रोमन लिपि में लिखी जाती हैं।

इंडो-चीनी भाषाएँ—बरमा, आसाम तथा तिब्बत की भाषाएँ इंडो-चीनी कहलाती हैं। इनमें दो भिन्न भिन्न विभाग हैं—(१) मानखमेर, (२) तिब्बती-चीनी। इन तमाम जातियों का असली घर यांगटिसीक्यांग तथा ह्वांगहो नदियों के बीच में उत्तर पश्चिमीय चीन मालूम होता है। यहाँ से ये चारों ओर गए। बृटिश हिंदुस्तान में ये चिंडविन, इरावदी तथा सालवीन नदियों के नीचे नीचे बरमा में और ब्रह्मपुत्र के नीचे आसाम में तथा ब्रह्मपुत्र के ऊपर से तिब्बत में गए। तिब्बत से उन्होंने हिमालय को लिया और अब नैपाल तथा अन्य उत्तरी पहाड़ी देशों में ये पाए जाते हैं। तमाम इंडो-चीनी भाषाएँ एकाक्षर हैं।

मानखमेर भाषाएँ—मानखमेर भाषाएँ इंडो-चीन में अनेक हैं, परंतु बृटिश इंडिया में केवल चार हैं। सब से ज़रूरी खसिया है जो मध्य आसाम की घाटी के दक्षिण के पहाड़ी देश में बोली जाती है जहाँ पर यह तिब्बती-बरमी भाषा के बीच में इस प्रकार है जैसे समुद्र के मध्य में द्वीप। इस भाषा में कुछ साहित्य उन मिशनरियों द्वारा हो गया है जो इसके बोलनेवालों में ही कार्य्य करते हैं। १०० वर्ष पहले यह भाषा ऐसी असभ्य और अशिष्ट समझी जाती थी, यहाँ तक कि लिखी भी न जा सकती थी, परंतु अब यह मान्य भाषा हो गई

है और कलकत्ता विश्वविद्यालय की परीक्षा में स्थान पा गई है। यह भाषा भी रोमन लिपि में लिखी जाती है।

तिब्बती-बरमी भाषाएँ—तिब्बती-चीनी भाषाओं की तिब्बती-बरमी शाखा का बहुत ज़्यादह प्रचार है। यह बहुत दूर तक फैली हुई है। इसमें तिब्बती और बरमी ये दो बड़ी भाषाएँ हैं। दोनों की वर्णमाला पृथक् पृथक् है परंतु दोनों देवनागरी से मिलती जुलती हैं। दोनों का साहित्य भी बढ़ा हुआ है।

८—धर्म ।

वैदिक काल [ईस्वी सन् से १५०० वर्ष पूर्व तक]—हिंदुस्तान के धर्मग्रंथों में वेद सब से प्राचीन हैं। वेदों के विषय में कभी कभी ऐसा विचार होता है कि इनमें प्राथमिक समय का सार्वजनिक काव्य है। परन्तु यह केवल भ्रम है। वास्तव में वेदों में ऋषियों द्वारा रचित गीतों और सूक्तों का संग्रह है। इनका भाव प्रायः नैयमिक और वैधिक है। वेद मंत्र सोम तथा अग्नियज्ञ के समय पढ़ने के हेतु रचे गए हैं। वेदों में प्रकृति की शक्तियों और पदार्थों का देवी देवताओं के नाम से आह्वान किया गया है। वे क्रियाएँ और संस्कार जिनमें वेदमंत्रों का पाठ होता था, बड़े आडंबर के साथ होती थीं। उसके बाद के समय में यह क्रियाकांड और भी बढ़ गया था।

वेद—ऋग्वेद तथा उसके परिशिष्ट सामवेद की रचना उस समय हुई जब आर्य लोग उस स्थान पर पहुँच गए थे जहाँ पंजाब की नदियाँ सिंध नद से मिलती हैं। शुक्ल तथा कृष्ण यजुर्वेद की उस समय रचना हुई जब वे लोग सतलज और जमुना के निकट पहुँच गए। अथर्ववेद जिसमें हिंदुस्तान के प्राचीन निवासियों तथा आर्यों के साधारण विश्वास और भावनाएँ सम्मिलित हैं, उस समय बना जब वे बनारस तक आ गए थे।

वैदिक ब्रह्मज्ञान—वेदों में जो ब्रह्मज्ञान पाया जाता है उसका आदि स्वर्गीय पदार्थों की पूजा से और अंत भौतिक पदार्थों की उपासना से होता है अर्थात् प्रथम उसमें अंतरिक्ष देवताओं की उपासना है, पश्चात् उन देवताओं की जिनके अधिकार में आकाशमंडल है, तत्पश्चात् उन देवताओं की जिनका भूमंडल पर साम्राज्य है। वैदिक काल में सर्व शक्तिमान परमात्मा की टोह भी लोग इस प्रकार लगाते थे जैसे कोई अँधेरे में किसी वस्तु को टटोलता हो। उस समय, बड़े बड़े विद्वान् और तत्त्ववेत्ता इस बात का कुछ कुछ अनुभव करने लगे थे कि आत्मा सब वस्तुओं में व्याप्त है और संपूर्ण जगत् तथा संपूर्ण देवता उसके ही आविर्भाव हैं। इस प्रकार वैदिक काल के अंत में विद्वानों को प्रजापति विश्वकर्मा के रूप में ईश्वर का ज्ञान हो गया था, यद्यपि इन उपाधियों का प्राचीन मंत्रों में मुख्य मुख्य देवताओं के लिये प्रयोग होता था। इस सिद्धांत की अगले काल अर्थात् ब्राह्मण काल में और भी अधिक उन्नति हुई।

ब्राह्मण काल [ईसवी सन् से ८०० वर्ष पूर्व से ५०० वर्ष पूर्व तक]—ब्राह्मणों में संस्कार संबंधी प्रश्नों और नियमों का उल्लेख है। लोकमत के अनुसार इनको प्राचीन ऋषियों ने पुजेरियों और ब्राह्मणों के लिये बनाया है। इस समय तक आर्य्य लोग मध्यदेश में स्थायी रूप से बस गए

थे। इसी देश में एक विशेष प्रकार के धर्म अर्थात् ब्राह्मण धर्म का जन्म हुआ। आत्म विषयक प्राचीन सिद्धांत अब उन्नत अवस्था पर पहुँच गया अर्थात् संपूर्ण पदार्थ और शक्तियाँ एक परम ब्रह्म परमात्मामय समझी जाने लगीं जिसका नाम अव्यक्त दशा में तो ब्रह्म, जगत्कर्त्ता रूप में ब्रह्मा तथा व्यक्त रूप में ब्राह्मण माना गया। इस समय के ग्रंथकार ब्रह्मविद्या के विषय में कुछ नहीं लिखते। उनका रोचक विषय केवल उपासना है। प्रत्येक धार्मिक कार्य के साथ एक विशेष मंत्र होना चाहिए जिसका प्रत्येक शब्द प्रभावोत्पादक और प्रत्येक स्वर शक्तिसंपन्न हो।

उपनिषदों में ब्रह्मविद्या—ब्राह्मण काल के विद्वानों के विचारों का उपनिषदों में अधिक विकास हुआ। ब्राह्मणों में जिसको आत्मा माना है उसको उपनिषदों में ब्रह्म रूप माना गया अर्थात् दूसरे शब्दों में आत्मा को ही प्रजापति के स्थान में माना गया। सम्यक् ज्ञान द्वारा ब्रह्म में लीन होने से पूर्णानंद की प्राप्ति होती है। इसी के साथ आवागमन का सिद्धांत भी बुद्धदेव के समय में पूर्ण रूप से व्यवस्थित हो गया। क्योंकि बुद्धदेव ने इस सिद्धांत को बिना किसी प्रकार की शंका या संशय के तत्काल स्वीकार कर लिया। यह आविष्कार इतना नवीन दर्शन नहीं था जितना नवीन धर्म था। इसमें विधि संस्कार नहीं थे। इसमें ऐसे जीवन का निर्देश है जिसमें न इच्छा रूपी दुःख है, न जिसका अंत है और न

जिसमें जन्म मरण का जंजाल है, किंतु निर्विकल्प नित्यानंद जीवन का उपदेश है। ऋषि की आत्मा अनंत शाश्वत परमात्मा में लीन तदात्म्य रूप हो जाती है। आत्मा ही परमात्मा हो जाता है।

ब्राह्मण धर्म के विरुद्ध प्रतिकार—उक्त विचारों और तत्वों का जन साधारण पर कुछ प्रभाव नहीं पड़ा और समय भी परिवर्त्तन के अनुकूल था। इस संशोधन ने दो रूप धारण किए। एक तो बौद्ध तथा जैन धर्म का उदय, दूसरा सांप्रदायिक देवों अर्थात् शिव और विष्णु का विकास।

गौतम बुद्ध [ईसवी सन् के ५८६ वर्ष पूर्व से ५०८ वर्ष पूर्व तक]—गौतम बौद्धधर्म के नेता और संस्थापक थे। ये तराई की शाक्य नामक क्षत्रिय जाति के एक छोटे से अधिपति के पुत्र थे। उनकी युवा अवस्था बड़े सुख चैन में व्यतीत हुई। ज्ञानोद्दीपन वा केवल ज्ञान के पश्चात् उन्होंने ४ प्रकार सत्य का स्वरूप निरूपण किया। जीवन निःसार और निष्फल है। पुनः पुनः जन्म मरण राग द्वेष का परिणाम है। इनसे मुक्त होने के लिये यथार्थ सद्विश्वास, सद्विचार, सद्वाक्य, सद्कर्म, सज्जीवन, सच्चितता और सद्ध्यान, इन आठ उपायों द्वारा तृष्णा का विनाश करना चाहिए। इस सिद्धांत का गौतम बुद्ध ने लगभग ४५ वर्षों तक मगध देश में प्रचार किया।

जैन धर्म—दूसरा धर्म जिसने ब्राह्मण धर्म के विरुद्ध आश्रम स्थापित किए, जैन धर्म है। बौद्ध धर्म के समान इसका भी उदय मगध देश में हुआ और इसके संस्थापक नेता वर्द्धमान भी गौतम के समान क्षत्रिय जाति में से हुए। ये दोनों महात्मा समकालीन थे। वर्द्धमान स्वामी ईसवी सन् ५९९ वर्ष पूर्व से ५२७ वर्ष पूर्व तक रहे। उनका धर्म स्थापित हो जाने पर उनका नाम महावीर अर्थात् बड़ा बहादुर हो गया। पीछे से वे जिन (कर्म शत्रु के जीतनेवाले, राग द्वेष को नष्ट करनेवाले) के नाम से प्रसिद्ध हुए और जो धर्म उन्हों ने स्थापित किया वह जिन (जैन) कहलाने लगा। जैन धर्म या बौद्ध धर्म में जो समानता पाई जाती है उसका कारण यह नहीं है कि एक ने दूसरे का अनुकरण किया है किंतु यह है कि दोनों का मूल आधार एक ही है। दोनों का उद्देश्य निर्वाण-प्राप्ति है। हाँ, यह अवश्य है कि दोनों में निर्वाण शब्द के अर्थ में भेद है। बौद्ध धर्म में निर्वाण से तात्पर्य जीवन के विनाश और क्षय से है, परंतु जैन धर्म में जीवन के क्षय से नहीं, किंतु शरीर के क्षय से है। दोनों धर्मों में नव शिष्यों तथा गृहस्थों के यम नियम प्रायः समान हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शील और अपरिग्रह, ये जैन धर्म के ५ व्रत हैं जिनका पालन करना प्रत्येक गृहस्थ (श्रावक) का धर्म है।

ब्राह्मण धर्म का हिंदू धर्म में परिवर्त्तन—जैन मत या बौद्ध धर्म की वृद्धि तथा आर्य जाति की अवनति से

जिसमें हिंदुस्तान के हज़ारों प्राचीन निवासी शामिल हो गए, ब्राह्मण धर्म में एक बड़ा परिवर्त्तन हो गया। लोगों के विचार बिलकुल बदल गए। परिणाम यह हुआ कि हिंदू धर्म जो आज कल जन साधारण का मत है, प्रचलित हो गया। बौद्ध धर्म तथा जैन धर्म की वृद्धि के साथ साथ ब्राह्मण धर्म में परिवर्त्तन होता गया। वास्तव में ये तीनों धर्म वर्त्तमान हिंदू धर्म के तीन भिन्न भिन्न रूप हैं। ब्राह्मण धर्म में दो कारणों से विकास हुआ। एक उपासना को जातीय आदर्श बनाने से, दूसरे प्राचीन अनार्य विश्वासों को प्राचीनतर मत में सम्मिलित कर लेने से। पहले का उल्लेख रामायण, महाभारत, मनु तथा अन्य कुछ ग्रंथों में और दूसरे का पुराणों में पाया जाता है।

रामायण तथा महाभारत का धार्मिक प्रभाव— इनका प्रभाव यह हुआ कि ऐसे वीर पुरुषों का एक संग्रह हो गया जिनकी उनके बाद के समय के हिंदुओं ने बड़े आदर भाव से पूजा उपासना की है। अतएव वेदों के असार छायात्मक देवताओं के स्थान में आजकल अवनति के समय में भी रामायण तथा महाभारत में शूर वीर तेजस्वी, पराक्रमी पुरुषों के चरित्र हैं। वीर पांडवों और उनकी पतिव्रता देवी द्रौपदी तथा राम और उनकी सती साध्वी सीता जी ने हमारे लिये शुचिता और पवित्रता के आदर्श बनाकर खड़े कर दिए हैं। आजकल रामायण जिसको तुलसीदास जी ने

उत्तरीय हिंदुस्तान की पूर्वीय हिंदी में लिखा है, वैष्णव बाइबिल समझी जाती है। इसी के आधार पर प्रायः प्रत्येक नगर में रामलीला खेली जाती है।

शैव तथा वैष्णव मत—इसकी खोज करना बड़ा कठिन है कि कब और किस प्रकार शिव तथा विष्णु पूजा का प्रचार हुआ। आजकल के हिंदू शिव तथा विष्णु को धर्म के मुख्य दो स्तंभ समझते हैं। सर एलफरेड लायल (Sir Alfred Lyall) कहते हैं कि शिव प्रकृति के अत्यंत प्रारंभिक तथा विश्वव्यापी प्रभाव और अनंत परिवर्त्तन को मनुष्य पर प्रगट करते हैं। वे नाना प्रकार के जीवों का संहार करनेवाले तथा पुनः निर्माण करनेवाले हैं। संपूर्ण विश्वमंडल के आवागमन का उनके हाथ में पूर्ण अधिकार है। शिव मत का प्रचार विहार के कुमारिलभट्ट नामक ब्राह्मण तथा उसके जगत्प्रसिद्ध शिष्य स्वामी शंकराचार्य ने किया।

विष्णु के अनेक रूप हैं, परंतु सब से प्रसिद्ध अवतार राम और कृष्ण हैं। रामानुज आदि अनेक तत्त्ववेत्ताओं ने इस मत का प्रचार किया। रामानुज ही सब से पहले प्रचारक हुए। वे एक दक्षिणी ब्राह्मण थे। वे १०१७ और ११३८ ई० के बीच में हुए। उनकी पाँचवीं पीढ़ी में, १४ वीं शताब्दी में, रामानंद हुए। उन्होंने राम के रूप में विष्णु पूजा का उपदेश दिया। उनके १२ शिष्य थे। उनमें से एक कबीर थे जो १३८० से १४२० ई० तक रहे। उनका उपदेश बड़ा अद्भुत

और अपूर्व था जिसने आगे चलकर सिक्ख धर्म के संस्थापकों को भी प्रबोधित किया था। उनका मुख्य अभिप्राय हिंदू धर्म और मुसलमान धर्म को मिला देने का था। कबीर जाति के जुलाहे थे। उन्होंने बुद्धदेव के समान इस बात का उपदेश दिया कि सब मनुष्य समान हैं और सब को मोक्ष का अधिकार है। अली और राम एक ही ईश्वर के नाम हैं। चाहे अल्ला कहो चाहे राम कहो, भेद कुछ नहीं है। दोनों का एक ही अभिप्राय है। उत्तरीय हिंदुस्तान के प्रायः हिंदू मुसलमान दोनों जातियों के शिक्षित पुरुषों को ज़बान पर कबीर के नीति विषयक दोहे रहते हैं। सिक्खों के ग्रंथ साहब में भी उनका सन्निवेश किया गया है।

सिक्ख धर्म—आदि में सिक्ख धर्म एक नवीन परिष्कृत मत का रूप धारण करके प्रगट हुआ, परंतु अंत में यह एक राजनैतिक संघ बन गया। इस मत को गुरु नानक ने (जो १४६९ से १५५८ ई० तक रहे) पंजाब में स्थापित किया था। उनके बाद के गुरुओं ने, विशेष कर गुरु गोविंदसिंह ने, (जो १६८५ ई० १७०८ तक रहे) इसकी अधिक उन्नति की। उन्होंने यह नियम प्रचलित किया कि हर एक सिक्ख को निम्नलिखित पाँच 'ककार' अवश्य धारण करने चाहिएँ। १ केश (अर्थात् बालों को कभी न कटाना चाहिए), २ कच्छ (जाँघिया), ३ कड़ा, ४ कर्द (तलवार) और ५ कंघा। उन्होंने यह भी उपदेश दिया कि सिक्खों को तंबाकू कभी न पीना

चाहिए और जिन जानवरों का एक ही वार से गला कट जाय उनके मांस को छोड़ कर और किसी का मांस नहीं खाना चाहिए। गुरु नानक का सिद्धांत था कि ईश्वर एक है और जितने मनुष्य हैं वे भाई समान हैं। सिक्ख मत की वृद्धि इस कारण से नहीं हुई कि इसने कोई संदेसा सुनाया, किंतु इस कारण से कि इसने ऐसे सामाजिक नियम प्रचलित किए कि जिनसे इसके अनुयायियों में देशहित का जोश बढ़ गया और इनका पृथक् रूप से संगठन हो गया अर्थात् इनका एक पृथक् राष्ट्र बन गया।

शाक्त—एक और बड़ा मत जो शैव और वैष्णवों से मिलता जुलता है, शाक्त लोगों का है। इस में दुर्गा, काली, पार्वती आदि देवियों की मुख्यतया उपासना की जाती है।

इसलाम—सुन्नी, शिया—इसलाम के दो मुख्य संप्रदाय हैं—१ सुन्नी, २ शिया। मोहम्मद साहब की मृत्यु के १०० वर्ष के अंदर अंदर ही इसलाम में यह भेद हो गया। सुन्नी लोग सुन्नत अर्थात् रसूल के वाक्यों को कुरान के सदृश ही मानते हैं, परंतु शिया लोग इस बात से इंकार करते हैं। शिया लोगों का कथन है कि हज़रत अली तथा मोहम्मद साहब के दोहिते हसन हुसेन को संतान को ही ईश्वर की तरफ़ से इमाम (आचार्य) पद मिला हुआ है। सुन्नी लोग कहते हैं कि अबूबकर, उमर और उसमान, ये तीन ख़लीफ़ा पहले और हुए हैं; परंतु शिया लोग इनसे

इंकार करते हैं। सुन्नी लोग रूम और हिंदुस्तान में और शिया लोग ईरान और अफगानिस्तान में अधिकतर पाए जाते हैं। हिंदुस्तान में शिया लोगों के मुख्य केंद्र लखनऊ और हैदराबाद हैं। उन प्रदेशों में शिया धर्म बहुत ज़्यादा पाया जाता है जहाँ के निवासियों में कुछ अरब का मेल पाया जाता है।

इसलाम का समुत्थान—उत्तरीय हिंदुस्तान में आज कल इसलाम धर्म बहुत उन्नति पर है। नवयुवकों को उच्च कोटि की धार्मिक शिक्षा देने में तथा सुलभ साहित्य द्वारा धार्मिक ग्रंथों का देशभाषाओं में अनुवाद करके प्रचार करने में मुसलमान लोग बहुत आगे बढ़ रहे हैं। इसके साथ ही उच्च जातियों में भी शिक्षा की ओर रुचि बढ़ रही है। इसीका फल है कि अलीगढ़ में ऐंग्लो-ओरियंटल कालिज स्थापित हुआ है। यह कालिज मुसलमानों की उन्नतिशील पार्टी का प्रतिनिधि स्वरूप है और इसमें वे लोग शामिल हैं जो पक्षपात और संकीर्णता को घृणा की दृष्टि से देखते हैं और पश्चिमीय विज्ञान का हृदय से स्वागत करते हैं।

पारसी—दूसरा विदेशीय मत मजदान मत है। इसका दूसरा नाम पारसी मत भी है। इसका नाम मजदान उस समय से पड़ा जब कि अहुर मजदा (आरमुज्द) ने अहिरमन से युद्ध किया। इसको जरदश्त मत भी कहते हैं। इसका

पुराना ईरानी नाम ज़रथुश्त्र था। आज कल हिंदुस्तान में ९४००० पारसी हैं जिनमें ७००० बंबई और बड़ोदा में पाए जाते हैं।

यहूदी—मनुष्य गणना से मालूम होता है कि हिंदुस्तान में गत २० वर्षों में यहूदी लोग १२००० से १८००० हो गए हैं। हिंदुस्तान में यहूदी लोगों के दो मुख्य केंद्र हैं। एक बंबई में कोलाबा, दूसरा मलाबार किनारे पर कोचीन।

ईसाई मत—सब से पहले मलाबार में सीरिया गिरजा स्थापित हुआ। उसी समय से हिंदुस्तान में ईसाई मत का इतिहास प्रारंभ होता है। यह बात निश्चित है कि छठी शताब्दी के आदि में सीरिया का गिरजा हिंदुस्तान में स्थापित हुआ। सब से पहला पुर्तगाली मिशन १५०० ई० में हिंदुस्तान में आया। मदुरा में जेसूट मिशन सन् १६०६ ई० में आया। अकबर तथा उसी के उत्तराधिकारियों की सहायता से उत्तरीय हिंदुस्तान में कैथलिक मिशन स्थापित हुए। सब से पहला प्रोटेस्टेंट मिशन टरनकोबार में डेनिश लोगों की छत्रछाया में सन् १७०५ ई० में स्थापित हुआ। सन् १८७२ ई० से लेकर सन् १८०१ तक संपूर्ण हिंदुस्तान में ईसाई धर्म ने यथेष्ट उन्नति की। ३० वर्ष में ईसाइयों की संख्या १५ लाख से ३० लाख अर्थात् दूनी के क़रीब होगई है। देशी ईसाई प्रायः अनार्य जातियों में से अधिक भरती होते हैं। ईसाई धर्म की उन्नति के अनेक कारण हैं जिनमें से मुख्य ये

ह-प्रारम्भक प्रचारकों का अतुल श्रम, वर्तमान प्रचारकों की योग्यता, बाइबिल के भिन्न भिन्न भाषाओं में अनुवाद, ईसाइयों की उत्तम स्थिति और उन्नति शील अवस्था, शिक्षा का प्रचार, अकालादि दुर्घटनाओं के समय दया और उदारता का प्रकाश तथा बृटिश राज्य की सहायता उदारता और न्यायपराणता जिनके कारण लोगों को इतनी स्वतंत्रता प्राप्त है। महात्मा ईसा के उदार सिद्धांतों का ही बृटिश सरकार पर यह प्रभाव हुआ है।

आर्यों तथा उन जातियों की संतान में से हैं जो बहुत पीछे हिंदुस्तान में आई हैं, और नीच जातियाँ उन लोगों की बनी हुई हैं जो प्राचीन काल में यहाँ रहा करते थे और जिनको आर्यों ने परास्त करके अपने अधीन कर लिया था। बहुत से हिंदू मुसलमान बन गए हैं। हिंदुस्तानी मुसलमान प्रायः अधिकतर उन्हीं के वंशज हैं। उनमें कुछ थोड़े से विदेशी रक्त का अंश भी आ गया है। कम से कम बंगाल में यह प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता है। यहाँ के मुसलमान हिंदुओं की अपेक्षा अधिक मोटे ताज़े और लंबी नाकवाले होते हैं तथा उनमें श्रम और उत्साह भी अधिक होता है।

हिंदुस्तान के भिन्न भिन्न प्रांतों के मनुष्यों में केवल शारीरिक बल और आकृति में ही भेद नहीं है, किंतु खान पान, रहन सहन और जातीय व्यवहारों में भी बड़ा अंतर है। तथापि हिंदुस्तानी लोग चाहे वे किसी प्रांत के हों युरोप निवासियों से अनेक बातों में स्पष्ट पहचाने जाते हैं। युरोपनिवासियों की अपेक्षा हिंदुस्तानी प्रायः कुछ कमज़ोर होते हैं और इन का शरीर भी उन जैसा उम्दा बना हुआ नहीं होता। ये प्रायः शाकाहारी होते हैं। इनका खान पान किसी सिद्धांत पर निर्भर नहीं रहता। कभी वे शौक़िया खाते हैं और कभी आवश्यकता के अनुसार। इनमें अधिक बलवीर्य नहीं होता और श्रम करने की शक्ति बहुत कम होती है, परंतु इनकी आवश्यकताएँ भी बहुत थोड़े में पूरी हो जाती हैं। इसका कारण यह है कि इन्हें

अनाज सस्ता मिलता है, किराया कम लगता है, मकान सस्ते बनते हैं और कपड़ा कोई आवश्यक चीज़ नहीं समझी जाती। हिंदुओं में शादी विवाह एक धार्मिक प्रथा समझी जाती है और सर्वत्र देखने में आती है। मुसलमानों में, जंतुउपासक नीच जाति के मनुष्यों में और बौद्धों में विवाह शादी की कोई धार्मिक आज्ञा नहीं है, किंतु होती सब में है। हाँ यह अवश्य है कि हिंदुओं की अपेक्षा अधिक उमर में होती है। यद्यपि इन लोगों में विधवा विवाह की कोई मनाई नहीं है तथापि लोग इसे अच्छी दृष्टि से नहीं देखते। विवाह शादी के सर्वत्र प्रचार होने से जनसंख्या में बड़ी वृद्धि होती है, परंतु इस वृद्धि के अनेक बाधक कारण भी हैं। एक तो हिंदुस्तान की स्वास्थ्य संबंधी दशा दीर्घ जीवन के लिये उपयोगी नहीं है, दूसरे छोटे बच्चों में मृत्यु की संख्या बहुत ज़्यादा है, तीसरे अकालादि के दिनों में यह संख्या और बढ़ जाती है। उन दिनों में मृत्यु भूख से उतनी नहीं होती जितनी खाने पीने के गड़बड़ के कारण संग्रहणी, अतिसार तथा महामारी आदि रोगों के फैलने से होती है। ये रोग प्रायः अकाल के दिनों में बढ़ते हैं।

क्षेत्रफल, जनसंख्या—सन् १९११ की मनुष्यगणना के अनुसार हिंदुस्तान का क्षेत्रफल १८०२१९२ वर्ग मील है। बृटिश राज्य का क्षेत्रफल १०९३०७४ वर्ग मील है और देशी रियासतों का ७०९११८ वर्ग मील है, अर्थात् संपूर्ण हिंदुस्तान का ६०.६ भाग बृटिश हिंदुस्तान में है और ३९.६ भाग देशी

रियासतों में हैं। सन् १९११ की मनुष्यगणना के अनुसार संपूर्ण हिंदुस्तान में ३१५१३२५३७ व्यक्ति हैं जिनमें से २४४२६७५४२, वृटिश राज्य में हैं और ७०८६४९९५ देशी रियासतों में हैं। हिंदुस्तान की जनसंख्या संपूर्ण भूमंडल की जनसंख्या का पाँचवाँ भाग है। यद्यपि देशी रियासतों का क्षेत्रफल तमाम हिंदुस्तान के क्षेत्रफल से तिहाई से अधिक है किंतु आबादी चौथाई से बहुत कम है। संपूर्ण हिंदुस्तान में साधारणतः १७८ मनुष्य प्रति वर्ग मील में रहते हैं जिनमें से १३५ मनुष्य बटिश राज्य में और केवल ३६ मनुष्य प्रति वर्गमील देशी रियासतों में पाए जाते हैं। सर्वत्र एक सी दशा नहीं है। गंगा की उपजाऊ तर ज़मीन में ४०० से भी अधिक मनुष्य एक मील में रहते हैं परंतु राजपुताना के पश्चिमीय रेगिस्तान में ५ भी कठिनाई से मिलेंगे।

जिस देश की जनसंख्या इतनी अधिक हो और जिसमें यह संख्या दिन दिन बढ़ती जाती हो, उसके विषय में स्वतः यह प्रश्न उठता है कि क्या इस देश के लिये वह समय निकट नहीं आनेवाला है जब इसमें इतने मनुष्य हो जाँयगे कि जिनका यह पालन भी नहीं कर सकेगा ? परंतु हिंदुस्तान की भीतरी अवस्था के देखने से मालूम होता है कि इस देश में अभी ऐसी कोई भय की बात नहीं है।

अब हिंदुस्तान में खेती के सिवाय अच्छी आमदनी के और काम भी दिन दिन बढ़ते जाते हैं। खेती भी वैज्ञानिक

रीति से करने से घने से घने प्रदेशों की उपज भी अधिक बढ़ जायगी। इनके अतिरिक्त बरमा में बहुत जगह ख़ाली पड़ी हुई है जो सब खेती के काम में आ सकती है। हिंदुस्तान में ही राजपुताने के पश्चिम में कितना बड़ा रेतीला मैदान पड़ा हुआ है। जल की सुगमता से यह तमाम रेतीला बंजड़ मैदान हरा भरा हो सकता है और इसमें बहुत अच्छी उपज हो सकती है। घनता केवल एक सापेक्ष शब्द है। हिंदुस्तान में वे ही प्रदेश अधिक उन्नतिशील हैं जो अधिक सघन हैं। पूर्वीय बंगाल के घने आबाद ज़िले बड़े समृद्ध और उन्नतिशील समझे जाते हैं। समान्यतया १८९१ से लेकर अब तक उन्हीं ज़िलों में जनसंख्या की वृद्धि हुई है जिनमें पहले से घनता थी और एक वर्ग मील में ५०० से ६०० मनुष्यों तक की आबादी थी।

धर्म—सन् १९०१ की मनुष्यगणना में हिंदुस्तान की संपूर्ण जनसंख्या में १०० में से ७० हिंदू, २१ मुसलमान, ३ बौद्ध, ३ जंतु-उपासक (Animists), १ ईसाई और शेष में सिक्ख, जैन, पारसी, यहूदी तथा दूसरे लोग थे।

हिंदू—हिंदू धर्म ही जिसके माननेवाले हिंदुस्तान में २०,७०,००,००० मनुष्य हैं, हिंदुस्तान का मुख्य धर्म है। ७० प्रति सैकड़ा मनुष्य किसी न किसी रूप में इसके माननेवाले हैं। सन् १८९१ ई० से १९०१ तक इन १० वर्षों में ५ लाख हिंदू कम हो गए हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि जहाँ हिंदुओं

की अधिक आबादी है, उन्हीं क्षेत्रों में अकाल अधिक पड़ा है। परंतु इस कमी के और भी कारण हैं। यद्यपि जंतु-उपासकों में से बहुत से हिंदू धर्म में आए हैं, परंतु उनमें से अधिक ईसाई और मुसलमान हो गए हैं। दूसरे हिंदुओं की अनेक सामाजिक प्रथाएँ इनकी संख्या को और धर्मावलंबियों की अपेक्षा दिन दिन घटाती जाती हैं।

जंतु-उपासक—हिंदुस्तान में इनकी संख्या ८५ लाख से कुछ ही अधिक है। इनका सिद्धांत यह होता है कि मनुष्य चारों ओर अनेक शक्तियों से घिरा हुआ है अर्थात् मनुष्य के चारों तरफ़ अनेक देवी देवता और भूत प्रेत हैं। उनमें से कुछ नदियों और पहाड़ों में रहते हैं, कुछ प्राकृतिक पदार्थों में, कुछ का रोग व्याधियों पर साम्राज्य है, परंतु कुछ का कोई कार्य नियुक्त नहीं है और न उनका कोई नियत स्थान ही है; वे प्रायः द्रोहपरायण और दुष्ट बुद्धिवाले होते हैं और उनको शांत रखने के लिये बलिदान आदि अनेक क्रियाएँ करनी होती हैं, जिनमें मंत्र-प्रयोग विशेष रूप से किया जाता है।

बौद्ध, सिक्ख, जैन—शेष देशी धर्मों में संख्या की दृष्टि से बौद्ध-धर्म सब से प्रबल है। लगभग ६५ लाख मनुष्य इस धर्म के अनुयायी हैं, परंतु थोड़े से मनुष्यों को छोड़ कर शेष सब बरमा तथा उसके आस पास में पाए जाते हैं। सिक्ख लोग जिनकी संख्या ३० लाख से कुछ अधिक है, प्रायः

पंजाब में ही पाए जाते हैं। जैन लोग जिनकी संख्या १२ लाख के करीब है, अधिकतर गुजरात और राजपुताने में पाए जाते हैं। हिंदू संप्रदायों की अनेक शाखाएँ हैं। ब्रह्मसमाज तथा आर्यसमाज यह दो अद्वैत मत अभी हाल में स्थापित हुए हैं। इनकी संख्या दिन दिन वृद्धि पर है।

मुसलमान—मुसलमानों की संख्या सवा ६ करोड़ है। अर्थात् दूसरे शब्दों में हिंदुस्तान की संपूर्ण जनसंख्या का पाँचवाँ भाग मुसलमान हैं। यह बात तो जल्दी समझ में आ जाती है कि पंजाब और सिंध में इस कारण से मुसलमानों की संख्या अधिक है कि वे उस रास्ते पर हैं अथवा उसके पास हैं, जिससे अफ़ग़ानों और मुग़लों ने निरंतर हिंदुस्तान पर धावा किया, परंतु यह बात जल्दी समझ में नहीं आती कि बंगाल ख़ास में मुसलमानों की संख्या इतनी अधिक क्यों है। विचार करने से मालूम होता है कि इसका भी एक कारण है और वह यह है कि बंगाल के पूर्व और उत्तर के निवासी मुसलमानी चढ़ाई के समय पूर्ण रूप से हिंदू नहीं बन गए थे। इस कारण से उन पर इसलाम का बहुत जल्दी असर हो गया। मुसलमानों की संख्या दिन दिन बढ़ती जाती है। इसके अनेक कारण हैं। एक तो यह है कि जिन प्रांतों में मुसलमान विशेष-तया रहते हैं, वहाँ अकाल नहीं पड़ा। दूसरे मुसलमानों में शादी बड़ी उमर में की जाती है। तीसरे उनमें विधवाविवाह की मनाई नहीं है। चौथे उनका खाना अधिक पोषक है।

पाँचवें हिंदुओं को अपेक्षा उनके यहाँ लड़कियों का अधिक रक्षण पोषण किया जाता है। छठे उनके यहाँ से दूसरे मतों में बहुत ही कम लोग जाते हैं। सातवें हिंदुओं में से उनके यहाँ कुछ न कुछ लोग आते रहते हैं।

ईसाई—ईसाइयों की संख्या ३८७६१९६६ है, जिसमें से ३५७४७७० देशी ईसाई हैं और शेष युरोपियन अथवा युरेशियन हैं। लगभग दो तिहाई देशी ईसाई मद्रास तथा उसके अंतर्गत अधीन रियासतों में पाए जाते हैं। औरों की अपेक्षा ईसाइयों की संख्या में बड़ी वृद्धि हुई है। सन १६०१ ई० में युरोपियनों की संख्या १६६६७७ थी और युरेशियनों की ८६२५१ थी। सन १६११ ई० में यह क्रम से १६६७७६ और २०१६५७ हो गई। एक तिहाई से अधिक युरोपियन हिंदुस्तान में ही पैदा हुए। ११ में से १० युरोपियन बृटिश राज्य की प्रजा हैं। शेष में बहुत से तो मिशनरी अर्थात् पादरी हैं और बहुत से अन्य विलायती व्यापारिक कंपनियों के सदस्य हैं।

शिक्षा—सन् १६०१ की मनुष्यगणना में भारतवासी दो भागों में विभक्त किए गए थे। एक में वे लोग थे जो लिख पढ़ सकते थे और दूसरे में वे लोग थे जो लिखना पढ़ना भी नहीं जानते थे। हज़ार में केवल ५३ पढ़े लिखे थे। पुरुषों में १० पीछे १ शिक्षित था और स्त्रियों में १४४ पीछे केवल एक शिक्षिता थी। संभव है कि इस हिसाब में कुछ भूल रह गई हो। परंतु सन् १६११ की मनुष्यगणना में शिक्षा में पहले से बहुत

उन्नति हुई। इसमें १० प्रति सैकड़ा मनुष्य लिखे पढ़े निकले और स्त्रियां १ प्रति सैकड़ा। गत १० वर्षों में बहुत से स्कूल नए बढ़ गए हैं। प्रारंभिक शिक्षा तथा उच्च शिक्षा दोनों में अधिक उन्नति हुई है। सन् १९०१ ई० में विद्योन्नति में बरमा का सब से पहिला नंबर और मद्रास का दूसरा नंबर था। इसके बाद बंबई, बंगाल, आसाम, पंजाब, संयुक्त-प्रांत और सब से पीछे मध्य प्रदेश का नंबर था। सन् १९११ में बंगाल का दूसरा नंबर, मद्रास का तीसर, बम्बई का चौथा और पश्चिमोत्तर सरहदी सूबे का सब से पिछला नंबर रहा। मध्य प्रदेश ने इस वर्ष में बड़ी उन्नति की। देशी रियासतों में भी अब शिक्षा की ओर पहले से अधिक लक्ष्य है। बड़ोदा का नंबर सब से पहला है। प्रारंभिक शिक्षा वहाँ पर आवश्यक है। बड़ोदा राज्य में १७ प्रति सैंकड़ा पुरुष और २ प्रति सैंकड़ा स्त्रियाँ पढ़ी लिखी हैं। कोचीन, ट्रावनकोर, मैसूर, ग्वालियर आदि रियासतों में भी शिक्षा दिन दिन बढ़ती जाती है। सन् १९११ की मनुष्यगणना में देशी रियासतों में १०० पीछे ८ पुरुष और १००० पीछे ९ स्त्रियां पढ़ी लिखी निकलीं।

समुद्र के किनारे पर पढ़े लिखे मनुष्यों की संख्या बहुत अधिक है, परंतु ज्यों ज्यों भीतर की तरफ़ चलो, उनकी संख्या घटती जाती है। उन लोगों की अपेक्षा जिनकी देशी भाषा आर्य है, उन लोगों में अधिक शिक्षा है जिनकी भाषा द्राविड़ या मंगोलियन है। धार्मिक समाजों में पारसी लोग सब से

अधिक पढ़े लिखे हैं। दो तिहाई पारसी लिखना पढ़ना जानते हैं। इनके बाद जैनियों और बौद्धों, फिर ईसाइयों का नंबर है। जैनी २५ प्रति सकड़ा, बौद्ध २२ प्रति सैकड़ा और ईसाई भी क़रीब क़रीब बौद्धों के बराबर ही शिक्षित हैं। शिक्षित से तात्पर्य उन सब लोगों से है जो किसी भाषा में पढ़ना लिखना जानते हैं। सिक्खों में १०० पीछे ६, हिंदुओं में ५ और मुसलमानों में ३ पढ़े लिखे हैं। शिक्षा में सब से पिछला नंबर जंतु-उपासकों का है जिनमें २०० में एक भी लिखना पढ़ना नहीं जानता। अँग्रेज़ी भाषा का मद्रास, बंबई और बंगाल में अधिक *प्रचार है। देशी रियासतों में भी अंग्रेजी का प्रचार* बढ़ता जाता है। कोचीन, ट्रावनकोर, मैसूर, इंदौर, ग्वालियर आदि रियसतों में अँग्रेज़ी शिक्षा के अनेक कालिज और स्कूल हैं।

१०—जन साधारण का स्वास्थ्य तथा मृत्यु संख्या।

प्राणघातक रोगों की तीन मुख्य जातियाँ—हिंदुस्तान में रोग तथा मृत्यु के ३ मुख्य कारण हैं—(१) खास ज्वर जिन में मलेरिया, चेचक, (इनफ्लुवेंज़ा,) माल्टा, सन्निपात तथा अन्य अनेक प्रकार के ज्वर हैं। (२) वे रोग जिनका पेट पर असर पड़ जाता है जैसे हैजा, अंतड़ियों का ज्वर, पेचिश, संग्रहणी आदि। (३) फेफड़े के रोग जैसे दमा निमोनियाँ, खाँसी। पहले दो प्रकार के रोग छुतीले हैं। प्रायः सारे रोग ज्वर और अजीर्ण के कारण होते हैं। दूसरी बात जो हिंदुस्तान में अधिकतर पाई जाती है यह है कि यहाँ दाद, खुजली, फोड़े, फुंसी वगैरह त्वचा संबंधी रोग बहुत होते हैं जिसका मुख्य कारण यह है कि यहाँ के लोग सफ़ाई की तरफ़ ध्यान नहीं देते। इस देश में अधिकतर लोग उन रोगों के कारण बीमार पड़ते हैं तथा मरते हैं जो छुतेले हैं अर्थात् जिनके कीड़े दूसरों पर जल्द असर कर जाते हैं। इसके अतिरिक्त यहाँ के लोगों में सहन करने की शक्ति बहुत कम होती है और वे स्वास्थ्य संबंधी नियमों की बहुत अवज्ञा करते हैं।

उनके रहने के मकान बड़े गंदे और नमीदार होते हैं जिनमें स्वच्छ वायु और सूर्य के प्रकाश का प्रवेश भी नहीं होता। जिन मकानों और मोहल्लों में वे रहते हैं वे बड़े घने होते हैं। मैले के निकास का कोई यथेष्ठ प्रबंध नहीं होता। जिस जल को वे पीते हैं, वह बड़ा मैला होता है। इन्हीं कारणों से यहाँ के लोग अधिक संख्या में मरते हैं।

रोग—हिंदुस्तान में क़रीब क़रीब एक तिहाई रोग मृत्यु के कारण होते हैं। इस हिसाब से ३० करोड़ भारतवासियों में दो अढ़ाई करोड़ मनुष्य सदा बीमार रहते हैं। जवान लोग अधिकतर बीमार पड़ते हैं। मलेरिया, आमातिसार, अतिसार तथा फेफड़े के रोग ही अधिकतर सताते हैं। यदि इनसे कोई बच भी जाता है तो बाद में ज़रा सी असावधानी से उस पर इनका असर हो जाता है। इन रोगों से शारीरिक और मानसिक शक्ति बिलकुल घट जाती है, उत्साह मंद हो जाता है और इंद्रियाँ शिथिल पड़ जाती हैं, जिसका यह परिणाम होता है कि निर्बलता के कारण लोगों की आयु कम हो जाती है तथा संतान प्रथम तो होती ही नहीं, यदि होती भी है तो बड़ी दुर्बल और पौरुषहीन होती है। यही देश की निर्धनता का मूल कारण है। यह बात हिंदुस्तान और इँगलैंड का मिलान करने से अच्छी तरह समझ में आ जाती है। १५ और ३५ वर्ष के बीच की उमर के लोगों में इंगलैंड की अपेक्षा सैकड़ा पीछे ३६-३८ पुरुष और ३४-४८

स्त्रियाँ हिंदुस्तान में अधिक मरती हैं और ७८ पुरुष और ८५ स्त्रियाँ कम पैदा होती हैं।

हिंदुओं और मुसलमानों की मृत्युसंख्या—समान अवस्था के हिंदुओं और मुसलमानों का मिलान करने से मालूम होता है कि मुसलमानों की अपेक्षा हिंदू अधिक मरते हैं। यद्यपि मुसलमान हिंदुओं की अपेक्षा अधिक गरीब हैं, उनमें प्रायः अधिकतर नीच जाति के हिंदू हैं, जो मुसलमान बन गए हैं तथा संयुक्त प्रांत में लोग शहरों में बहुत ज्यादा घने मोहल्लों में रहते हैं, तथापि १८९१ से १९०० तक इन १० वर्षों में पंजाब, संयुक्त प्रांत, मद्रास, बंबई और लोअर बरमा में मुसलमानों की मृत्युसंख्या हिंदुओं से कम रही है। बंगाल में भी १८९५ से ९९ तक यही हालत रही। देशी फ़ौज में १८९५ से ९९ तक इन ५ वर्षों में हिंदू हज़ार पीछे ८·८ मरे और मुसलमान हज़ार पीछे केवल ३·७ मरे। प्लेग से जो मृत्यु हुई हैं उनके देखने से भी यही प्रगट होता है कि मुसलमानों में सहन करने की अधिक शक्ति है। युरेशियन तथा देशी ईसाइयों में प्रायः सब जगह हिंदुओं और मुसलमानों की अपेक्षा कम मृत्यु हुई है। सन् १९०८ में मृत्यु का औसत हिंदुओं में हज़ार पीछे ३९ रहा, मुसलमानों में ३७·५ और ईसाइयों में २२·२५। इससे संभावना की जाती है कि खान पान का मनुष्य के स्वास्थ्य पर बड़ा असर पड़ता है। इससे यह न समझ लेना चाहिए कि वे लोग मांस खाते हैं, इस कारण से

वे अधिक जीते हैं और उनका स्वास्थ्य अच्छा होता है, किंतु इस कारण से कि वे हिंदुओं की अपेक्षा सादा और जल्दी पचनेवाला खाना खाते हैं। हिंदू लोग अधिकतर मिठाई और पूरी कचौड़ी खाते हैं जिससे कुछ भी लाभ नहीं होता, और मुसलमान तथा ईसाई लोग डबल रोटी, बिस्कुट वगैरह जल्दी पचनेवाली चीज़ें खाते हैं।

दूसरा भाग—इतिहास।

१—अभिलेख तत्त्व (Epigraphy)।

विषय—इस अध्याय में उन अभिलेखों का महत्त्व और स्वरूप दिखलाया जायगा जिनके आधार पर मुसलमान काल से पहले समय के इतिहास का अनुसंधान किया गया है। यह विषय बड़ा आवश्यक है, क्योंकि हिंदुस्तान में प्रायः इस प्रकार के अभिलेखों की ही संख्या अधिक नहीं है, किंतु इन अभिलेखों से ही प्राचीन काल के इतिहास का संकलन किया गया है। इनको छोड़कर और कोई साधन नहीं है। इस अध्याय में हम जिन अभिलेखों का वर्णन किया चाहते हैं वे या तो शासक हैं जिन का जन साधारण से संबंध है या केवल प्रशस्तियां हैं। सिक्कों तथा जवाहिरात के अभिलेखों का पृथक् अध्याय में वर्णन किया जायगा।

अभिलेखों का तत्त्व—इस प्रकार के अभिलेख प्रायः राजाओं द्वारा इस अभिप्राय से प्रकाशित किए गए हैं कि जिस में वे सदैव सुरक्षित रहें, कभी नष्ट न हों। इनमें अधिकतर उन विषयों का उल्लेख है जिनका जन साधारण से संबंध है। बहुतों में सन् और संवत् दिया है, बहुतेरे बिना संवत् के हैं। सब खुदे हुए हैं। ये अभिलेख कभी कभी बड़े बड़े स्तंभों पर अंकित किए जाते थे जैसे अशोक के धार्मिक या नैतिक

सिद्धांत तथा यशोधर्म्मन् राजा की विजय का प्रशस्ति जो मालवा प्रांत में दो विजय-स्तंभों पर अंकित है। अधिकतर अभिलेख धातुपत्रों, चट्टानों, दीवारों और स्तंभों पर, गुफाओं, मंदिरों और अन्य इमारतों के विशेष भागों पर, मूर्त्तियों और प्रतिमाओं के पादों पर तथा पात्रों पर पाए जाते हैं। कभी कभी ये चित्रित किए हुए तथा किसी में स्याही से लिखे हुए भी देखने में आते हैं। कोई कोई ईंट और मिट्टी पर भी अंकित किए हुए पाए जाते हैं।

अतएव यहाँ पर अभिलेखों में सिक्कों और जवाहिरात के लेखों को छोड़ कर शेष लिखे हुए, चित्र किए हुए, खुदे हुए, मोहर किए हुए, छोटे, बड़े, पब्लिक प्राइवेट, जिनसे हिंदुस्तान के प्राचीन काल के राजनैतिक इतिहास, धार्मिक उन्नति अथवा और किसी भी प्रकार के अनुसंधान में कुछ भी सहायता मिलती है, सब लेख सम्मिलित हैं। यात्रियों के केवल किसी जगह जाने के उल्लेख से उन धर्म्मस्थानों की जहाँ वे दर्शनार्थ गए तथा उन शहरों की जहाँ से वे आए, प्राचीनता सिद्ध होती है। मूर्त्तियों और प्रतिमाओं के बीजक तक बड़े बहुमूल्य हैं, क्योंकि उनसे उस समय का पता लगता है जिस में उस प्रकार की कथाओं और विचारों का प्रचार होगा। यदि किसी ईंट पर एक नाम की छाप है तो यह भी बड़ी उपयोगी है, क्योंकि उससे उस समय का अनुमान किया जा सकता है जिसमें यह इमारत बनी होगी। और तो क्या

राजगोरों के चौहों से भी हिंदुस्तान में लेखप्रणाली के इतिहास में बड़ी सहायता मिली है। इस प्रकार की प्राचीन सामग्री का ही हम इस अध्याय में वर्णन करेंगे और उसको अभिलेख के नाम से पुकारेंगे।

अभिलेखों का मूल्य वा महत्त्व—यद्यपि हमारे पूर्वजों ने हमको बहुत वस्तुएँ दी हैं, परंतु प्राचीन समय का उनसे कोई ऐतिहासिक ग्रंथ हमको नहीं मिला जिस पर विश्वास किया जा सके। प्राचीन लेखों की गत १०० वर्षों से लगातार परीक्षा करने पर अब कहीं प्राचीन भारत का राजनैतिक इतिहास मालूम होता है। प्राचीन हिंदुस्तान के विषय में और किसी प्रकार का अनुसंधान करने में भी हमको अंत में अभिलेखों की ही सहायता लेनी पड़ेगी। उनके अतिरिक्त और किसी साधन से ठीक ठीक तारीख़ नहीं मालूम हो सकती। पुराण, साहित्य, कथा, मुद्रा आदि से जो कुछ भी हमें ज्ञात होता है, वह सब उन्हीं के द्वारा व्यवस्थित होता है।

हिंदू-साहित्य—राजतरंगिणी तथा पुराणों के कुछ ऐतिहासिक परिच्छेदों को छोड़कर प्राचीन हिंदुओं ने कभी इतिहास लिखने का उद्योग नहीं किया। जो कुछ उन्होंने कभी कभी साहित्य ग्रंथों में ऐतिहासिक घटनाओं का उल्लेख कर दिया, उसी से हमको उस समय का इतिहास संग्रह करना पड़ता है। वह भी कुछ महत्त्व का नहीं है। हिंदुओं के साहित्य से भी हमको विशेष सहायता नहीं मिलती। नाटकों,

कविताओं तथा काल्पनिक कथाओं में मनुष्यों और स्थानों, दोनों के ऐतिहासिक नाम दिए हुए हैं, परंतु उनसे केवल उन स्थानों की स्थिति वा प्राचीनता तथा देशों की सीमा नियत करने में सहायता मिलती है। ऐतिहासिक दृष्टि से वे किसी काम के नहीं हैं। जिन घटनाओं का उनमें उल्लेख है उनका समय नहीं दिया हुआ है। इस प्रकार के दूसरे देशों के ग्रंथों में भी ऐतिहासिक दृष्टि से घटनाओं का उल्लेख नहीं है और न उनका समय दिया हुआ है। ऐतिहासिक दृष्टि से ग्रंथ उसी समय उपयोगी और लाभदायक होते हैं जब उनमें ग्रंथकर्त्ता का समय दिया होता है जिससे हम किसी व्यक्ति के विषय में जिसका नाम उसमें दिया हो, यह निश्चय कर सकें कि वह इस समय के बाद नहीं हुआ है। यद्यपि कुछ ऐसे ग्रंथ हैं जो इतिहास होने का दावा करते हैं, परंतु वास्तव में वे इतिहास नहीं हैं, केवल ऐतिहासिक आख्यायिकाएँ हैं। इस प्रकार के ग्रंथ संस्कृत में गद्य में बाणकृत हर्षचरित्र और पद्य में बिल्हणकृत विक्रमांकदेवचरित्र हैं। तामिल भाषा में कुछ ऐतिहासिक कविताएँ भी इसी श्रेणी की हैं।

अतएव प्राचीन नाटक, काव्य, पुराण, आख्यायिकाएं तथा संस्कृत और पाली भाषा के बौद्ध ग्रंथ, प्राचीन काल के रीति रिवाज, वाणिज्य, व्यापार, संसर्ग और संव्यवहार के उपाय और मार्ग, भौगोलिक संकेत तथा धार्मिक, सामाजिक, लौकिक जीवन के नियमों के अध्ययन और परिशीलन के लिये

बड़े मूल्य के हैं। जो कुछ हमें इन ग्रंथों से मालूम होता है वह उसी समय का है जिसमें वे ग्रंथ लिखे गए थे, न कि उस उस समय का जिसका उनमें उल्लेख है। कारण यह है कि प्राचीन हिंदू लेखक पुरातत्त्व के ज्ञाता नहीं थे।

अभिलेखों की अधिक संख्या—यह बात लिख देना आवश्यक है कि न तो इन अभिलेखों की ही संख्या कम है और न वे किसी विशेष भाग में ही पाए जाते हैं, किंतु उनकी संख्या बहुत ज़्यादा है और वे उत्तर में पेशावर ज़िले के शाहबाज़गढ़ी स्थान से दक्षिण में पांड्य राज्य तक और पूर्व में आसाम से पश्चिम में काठियावाड़ तक सर्वत्र पाए जाते हैं। हिंदुस्तान के विषय में हिंदुस्तान की सीमा के बाहर भी बहुत से लेख हैं। अफ़ग़ानिस्तान में संस्कृत-प्राकृत-मिश्रित भाषा में, तथा नेपाल में संस्कृत भाषा में अनेक लेख हैं। इनका हिंदुस्तान से इतना घनिष्ट संबंध है कि इनकी सदा हिंदुस्तानी लेखों में गणना होती है। मध्य एशिया में भी बहुत से लेख और ग्रंथ खरोष्ठी और ब्राह्मी दोनों लिपियों में हैं। इस प्रकार के अभिलेखों की अभी हाल में खोज होनी शुरू हुई है। समुद्र पार लंका में बहुत से लेख संस्कृत, पाली और सिंघाली भाषा में हैं। वे न केवल ऐतिहासिक दृष्टि से किंतु लिपितत्त्व और भाषा की दृष्टि से भी बड़े महत्त्व के हैं। उनका यथाक्रम अनुसंधान और प्रकाशन अब आरंभ हो गया है। कंबोडिया में ६०४ ई० के आगे के संस्कृत में लेख हैं। जावा में भी

संस्कृत लेख हैं । वरमा में भी बहुमूल्य लेख मिलने शुरू हो गए हैं।

इनके अतिरिक्त हिंदुस्तान में ही अभिलेखों की संख्या बहुत ज़्यादा है। सन् ४०० ई० से पूर्व के अभिलेखों की सूची बन गई है। अब तक इस समय के छोटे बड़े जितने अभिलेख मालूम हैं, सब की संख्या मिला कर ११००–१२०० के बीच में है। उत्तरी हिंदुस्तान की अर्थात् नर्मदा और महानदी के उत्तर के देश के सन् ४०० ईसवी से बाद के समय के अभिलेखों की सूची प्रोफ़ेसर कीलहार्न ने बनाई है जिसमें ७०० से ज्यादा अभिलेखों की जो पहले से मालूम हैं, तारीखें, नाम तथा अन्य मुख्य मुख्य बातें दी हुई हैं। दक्षिणीय हिंदुस्तान के भी सन् ५०० ई० से आगे के लगभग १०६० अभिलेखों की सूची उक्त प्रोफ़ेसर महोदय ने बनाई है। जब उत्तरीय हिंदुस्तान में ही प्रति वर्ष नवीन लेख मिलते जाते हैं तब अनुमान किया जाता है कि दक्षिणीय हिंदुस्तान में तो उनकी बहुत बड़ी संख्या होगी जिसका अनुमान करना असंभव है।

अभिलेखों का ठीक ठीक समय निर्णय करना—यह हर्ष की बात है कि अभिलेखों के इस बड़े संग्रह की तरतीब देने में हमें किसी कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ता, क्योंकि ईसवी सन् के १०० वर्ष पहले के इस प्रकार के लेखों में प्रायः समय दिया हुआ है। कुछ में प्रसिद्ध राजाओं

का राज्य समय दिया हुआ है, कुछ में ज्योतिषियों के कलियुग के अनुसार समय दिया हुआ है जिसका प्रारंभिक समय ईसवी सन् से ३१०२ वर्ष पहले से होता है, परंतु अधिकतर लेखों में विक्रम संवत् से लेकर जिसको महाराज कनिष्क ने ई० सन् से ५८ वर्ष पहले स्थापित किया था, भिन्न भिन्न ऐतिहासिक संवत् दिए हुए हैं। उनमें केवल सन् ही नहीं दिया हुआ है, परंतु महीने और दिन का भी हाल दिया हुआ है जिससे कभी कभी उस घंटे तक का ठीक ठीक पता लग जाता है जिसमें वह लेख लिखा गया।

अभिलेखों के उपयोग में सावधानता—इन लेखों के अनुसंधान तथा इनसे परिणाम निकालने में बुद्धिमानी, धैर्य्य और अनुभव की आवश्यकता है। विशेष कर एक प्रकार के लेखों में बड़ी ही सावधानी से काम लेना चाहिए। जिस प्रकार हिंदुस्तान में झूठे बनाए हुए कृत्रिम सिक्के हैं, उसी प्रकार अनेक मिथ्या कल्पित लेख भी हैं। इनमें से अनेक पिछले वर्षों में हमें प्राप्त हुए हैं। इनके स्वीकार करने तथा इनकी कल्पित कथाओं के मानने से जो हिंदुस्तान के प्रत्येक भाग में अधिकता से प्रचलित हैं, उड़ीसा तथा अन्य स्थानों की असंगत राजवंशावलियों तथा इसी प्रकार के अन्य लेखों से बहुत सा कल्पित भाग इतिहास में सम्मिलित हो गया है। भविष्य में इस कल्पित भाग को रोकने के लिये तथा वर्तमान में से इसे निकालने के लिये हम को उन अभिलेखों के विषय में जिनको

राज्यकर्मचारियों द्वारा प्रकाशित हुआ बतलाया जाता है, विशेष रूप से सावधान रहना चाहिए। अन्य अभिलेखों का भी विचारपूर्वक प्रयोग करना चाहिए। इनमें कुछ तो प्राचीन अभिलेखों पर से ही लिए गए हैं। ये बातें स्वयं उन लेखों में ही स्वीकार की गई हैं। अब हमारे लिये विचारणीय बात यह है कि कहाँ तक वास्तविक लेखों की ठीक ठीक नकल की गई है और कहाँ तक प्रमादवश विपर्यय हो गया है। कुछ लेख ऐसे हैं जिनमें यद्यपि यह लिखा नहीं है तथापि युक्ति और प्रमाण से स्पष्टतया प्रगट होता है कि वे प्राचीन लेखों पर से उतारे गए हैं। कुछ लेख वास्तव में यथार्थ हैं, परंतु वे इस अभिप्राय से अन्यथा कर दिए गए हैं कि उनसे विपर्यय अर्थ का बोध हो अर्थात् जिस अभिप्राय से वे वास्तव में लिखे गए थे, अब उसके विपरीत अभिप्राय की पुष्टि करते हैं।

परंपरागत कथाएँ—हम कह आए हैं कि परंपरागत कथाएँ भी जो साहित्य ग्रंथों में दी हुई हैं, प्राचीन इतिहास की खोज का एक साधन हैं, परंतु स्मरण रहे इनको बड़े विचार के साथ सावधानी से काम में लाना उचित है। अभिलेखों के अव्यक्त, अविज्ञात या क्लिष्ट शब्दों के अर्थ समझने में उक्त कथाओं को निःसंदेह सरलता से ग्रहण कर सकते हैं अथा अभिलेखों से अनुमित इतिहास के विच्छेदों की पूर्ति के लिये भी इनका उपयोग किया जा सकता है, यदि इनमें कोई असंभव या असंबद्ध बात न हो और अभिलेखों से

किसी निकटवर्ती घटना में समानता या अनुकूलता पाई जाती हो, परंतु यदि हम अभिलेखों से किसी घटना का स्पष्टतया संग्रह कर सकते हैं और उनके आधार पर घटनाओं को यथा-क्रम सुघटित कर सकते हैं तो हमें कथाभाग से सहायता लेने की कोई आवश्यकता नहीं। इस दशा में हम कथाभाग को केवल उसका लेखों से मिलान करने के अभिप्राय से देख सकते हैं, इसके अतिरिक्त उससे कोई काम नहीं निकल सकता। परंतु हमें कथाओं को कभी तोड़ना मरोड़ना नहीं चाहिए और न कभी उनका अपने अर्थ की पुष्टि या सिद्धि के लिये अपने इच्छानुसार अनुमान से संशोधन करना चाहिए। जो उनमें नहीं है वह कभी न कहना चाहिए। हाँ, यदि हमारे पास दृढ़ प्रमाण इस बात के उपलब्ध हैं कि उक्त कथा मिथ्या है और उसका इस रूप से संशोधन होना आवश्यक है तो हम उसका संशोधन कर सकते हैं; अन्यथा कदापि ऐसा प्रयत्न न करना चाहिए। हमें इस बात का सदैव विचार रखना चाहिए कि जिस कथा को हम उपयोग में लाते हैं वह प्राचीन है।

अंत में हमें स्मरण रखना चाहिए कि यद्यपि कथाएँ इतिहास का सहायक साधन हैं तथापि हमें उपयोग में लाने से पहले उन्हें अच्छी तरह देख लेना चाहिए। अभिलेखों का स्थान वे कदापि नहीं पा सकतीं और अभिलेखों से जो कुछ ज्ञात होता है उसके सामने वे कुछ भी महत्त्व नहीं रखतीं।

२—ऐतिहासिक समय से पहले की पुरानी चीज़ें ।

आरंभिक सभ्यता का क्रम—प्राचीन काल के उस धुंधले समय के, जिसके इतिहास या पुराण का किसी में भी उल्लेख नहीं है, मनुष्यों की अवस्था का ज्ञान केवल उस समय के मनुष्यों की उन गिनी चुनी पुरानी चीज़ों के वैज्ञानिक स्पष्टीकरण से ही हो सकता है जो आज कल उपलब्ध हुई हैं। ये चीज़ें हथियार, औज़ार, बरतन और समाधियाँ हैं। पुरातत्ववेत्ता विद्वान् इस बात पर सहमत हैं कि धातु संबंधी कला की उन्नति मालूम करने से यह अच्छी तरह मालूम हो सकता है कि उस समय के लोगों ने किस प्रकार क्रम क्रम से सभ्यता में उन्नति की।

जिस काल में लोहा आज कल के समान सर्वसाधारण के उपयोग में आता था, उसका नाम "लोहे का ज़माना" है। उससे पहले के समय का नाम, जब लोग लोहे की जगह काँसा बर्तते थे और उसी के औज़ार बनाते थे, "काँसे का ज़माना" है। उससे भी पहले के समय का नाम जब कि धातु का उपयोग मालूम नहीं था और ज़रूरत की सब चीज़ें लकड़ी पत्थर या हड्डी की बनती थीं "पत्थर का ज़माना" था।

बहुत से देशों में यह "पत्थर का ज़माना" भी दो समयों में विभक्त है। पहला वह समय जब लोग भद्दी शकल के औज़ार बनाते थे और दूसरा वह समय जब बढ़िया क़िस्म के खूबसूरत औज़ार बनने लगे। पहले समय के लोग कुम्हार का काम नहीं जानते थे और न मुर्दों की समाधियाँ बनाते थे, परंतु दूसरे समय में पहले तो लोगों ने हाथ से बर्तन बनाए, पीछे चाक से भी वे बनाना सीख गए तथा मुर्दों के लिये भी पत्थर की बड़ी बड़ी क़बरें बनाने लगे।

धीरे धीरे पत्थर के नए ज़माने से काँसे का ज़माना और काँसे के ज़माने से लोहे का ज़माना आ गया, परंतु पत्थर के पुराने और नए ज़माने के बीच में बड़ा अंतर मालूम होता है। पश्चिमी एशिया, मिस्र तथा युरोप के अनेक प्रदेशों में ऐतिहासिक काल के पहले ये चारों ज़माने हुए, परंतु यह परिवर्त्तन प्रायः क्रमबद्ध नहीं हुआ। कहीं कहीं एकदम पत्थर से लोहे का ज़माना आ गया, जैसे हिंदुस्तान में काँसे के ज़माने का अभाव है। एकबारगी साफ़ सुथरे चिकने पत्थरों से लोहे का आविष्कार हो गया, परंतु कहीं कहीं पर लोहे के प्रचार से पहले खरे ताँबे के औज़ार बनते थे।

पत्थर के पुराने ज़माने की बची हुई चीज़ें— हिंदुस्तान के इस समय के आदमियों के विषय में अब केवल इतना ही कहा जा सकता है कि जो उस समय के पत्थरों के

भद्द औज़ार मिले हैं, उनसे एक मनुष्य जाति की सत्ता का पता लगता है जो उन जानवरों के समय में थी, जो अब नष्ट हो गए हैं, जिनका आज कल अभाव हो गया है। इन मनुष्यों की, जो न बर्तन बनाते थे और न समाधियाँ बनाते थे, शरीर की हड्डियाँ और खोपड़ियाँ भी आज कल नहीं मिलतीं। हिंदुस्तान के जिन भागों में औज़ार (यंत्र, उपकरण) पाए जाते हैं, उनके विषय में अधिकतर खोज करने की ज़रूरत है। अब तक जो कुछ पृथिवी संबंधी खोज हुई है वह काफ़ी नहीं है।

पत्थर के नए ज़माने के औज़ार—इस ज़माने के औज़ार हिंदुस्तान में अधिकता से पाए जाते हैं। वे दक्षिण से उत्तर तक सर्वत्र देखने में आते हैं, परंतु बंगाल और पंजाब में कम मिलते हैं। सिंधु नदी के किनारे रोहरी पहाड़ पर सुमलटिक पत्थर के बड़े बड़े परत पाए जाते हैं तथा वे खानें भी पाई जाती हैं जिनसे ये परत बनाए गए। रोहरी औज़ार जिनके अनेक नमूने अजायबघरों में देखने में आते हैं, संभवतः पत्थर के नए ज़माने के हैं। इस ज़माने के औज़ारों के नमूने गंगा की कछार में तथा राजपुताने के पहाड़ों और रेतीले मैदानों में पाए गए हैं। जहाँ तक अनुमान किया जाता है, वे हिंदुस्तान के प्रत्येक प्रांत में हैं।

समाधियाँ [क़बरें]—आज कल की तरह ऐतिहासिक काल से पहले भी कई प्रकार से मुर्दों का क्रियाकर्म करते

थे। पत्थर के पुराने ज़माने में लोग मुर्दों को जंगलों में डाल दिया करते थे। नए ज़माने में संभवतः ज़मीन में गाड़ने की प्रथा थी। यह बात निश्चित मालूम होती है कि जलाने से गाड़ने की प्रथा प्राचीन है।

ऐसी समाधियाँ जिनको हम निश्चय से नए ज़माने की कह सकते हैं, हिंदुस्तान में बहुत कम हैं। पत्थर के बड़े बड़े ढोकों से बनी समाधियाँ अधिकतर लोहे के ज़माने की हैं। इस प्रकार की तरह तरह की समाधियाँ मद्रास, बंबई, मैसूर और निज़ाम राज्य में अधिकता से पाई जाती हैं। उनमें प्रायः लोहे के औज़ार पाए जाते हैं पर ये समाधियाँ बहुत भिन्न भिन्न कालों की मालूम होती हैं। कुछ वास्तव में ऐतिहासिक काल से पहले की हैं और कुछ नवीन हैं। इन क़बरों में जो आदमियों की हड्डियाँ आदि पाई गई हैं उनसे मालूम होता है कि लोग मुर्दों को गाड़ा कम करते थे और जलाया अधिक करते थे। कभी कभी एक ही क़बर में गाड़ने और जलाने, दोनों के चिह्न मिलते हैं।

ताँबे के औज़ार—जैसा हम पहले कह आए हैं, हिंदुस्तान में काँसे का ज़माना नहीं रहा अर्थात् काँसे के कभी औज़ार हथियार नहीं बनाए गए। काँसा केवल बर्तनों, दीपकों और अन्य सुंदर बर्तनों में बरता जाता था। उस समय लोहे का अच्छी तरह प्रचार हो गया था, परंतु यह बात स्पष्ट है कि उत्तरीय हिंदुस्तान के एक बहुत बड़े भाग में खरे ताँबे के

यंत्र और शस्त्र कुछ दिनों तक प्रचलित रहे। इनसे यह बात माननी पड़ती है कि पत्थर और लोहे के ज़मानों के बीच में ताँबे का ज़माना रहा है।

सर जान इवंस के कथनानुसार ताँबे के यंत्रों का अत्यंत महत्त्वपूर्ण अनुसंधान मध्य हिंदुस्तान में गंगेरिया में सन् १८५० ई० में हुआ था। जो चीज़ें उस खोज में मिली उनमें से ४२४ ताँबे के औज़ार थे जिनका वज़न ८२६ पौंड अर्थात् साढ़े दस मन के क़रीब था और १०२ चाँदी के पतले पत्तर थे जिनका वज़न ६ पौंड अर्थात् तीन सेर के क़रीब था। यद्यपि इस अपूर्व संग्रह में चाँदी भी थी, तथापि संभावना यह है कि ये दोनों बहुत पुराने ज़माने के हैं। यद्यपि ईसवी सन् से ६००,५०० वर्ष पहले दक्षिण में सम्भवतः चाँदी का प्रचार नहीं था, तथापि संभव है कि उत्तरीय हिंदुस्तान में इसका बहुत पहले भूमिमार्ग द्वारा प्रचार हो गया हो। जहाँ तक मालूम है हिंदुस्तानी खानों में चाँदी कभी अधिक अंश में नहीं मिली। यह सदा बाहर से आती रही। ताँबा निस्संदेह हिंदुस्तान में अधिकता से फैला हुआ है और प्राचीन खानों के नाम भी मालूम हैं। वेदों में जो कुछ कुछ लाल रंग के अयस् का वर्णन है, वह लोहा या काँसा नहीं हो सकता किंतु ताँबा जरूर होगा। गंगेरिया निधि के ताँबे के औज़ार तथा इसी धातु के अनेक हथियार तलवार, भाले वग़ैरह जो समय समय पर गंगा की घाटी में

कानपुर, फतेहगढ़, मैनपुरी और मथुरा में पाए गए हैं, संभवतः हिंदुस्तानी ताँबे के ही बने हुए हैं।

लोहा—हिंदुस्तान में लोगों को लोहे का ज्ञान कब हुआ, इसका ठीक ठीक अब निश्चय नहीं किया जा सकता। यद्यपि ईसवी सन् से सातवीं शताब्दी पूर्व में इस धातु का मिस्र में सर्वसाधारण में प्रचार था, तथापि यह वहाँ ईसवी सन् के ८०० वर्ष पूर्व से बहुत पहले मालूम नहीं थी। दक्षिणीय हिंदुस्तान में जिसका यद्यपि उत्तरीय हिंदुस्तान से पहाड़ और जंगल के कारण कोई संबंध न था, परंतु मिस्र से बहुत प्राचीन काल से था, अधिक से अधिक पहले इस ही समय में लोहे का प्रचार हुआ होगा, परंतु बबलूनिया में लोहा बहुत पहले से मालूम था। संभव है कि दक्षिण में लोहे का प्रचार होने से बहुत पहले उत्तरीय हिंदुस्तान के लोगों को इसका ज्ञान हो गया हो। सिकंदर की चढ़ाई के समय ईसवी सन् से ३२६ वर्ष पहले उत्तीरय हिंदुस्तान की सैनिक जातियाँ युद्ध कला में एशिया की अन्य जातियों से बहुत बढ़ी चढ़ी थीं और लोहे और फ़ौलाद के प्रयोग में यूनानियों के समान दक्ष थीं। रूम के इतिहासकार कुइंटस करटियस ने लिखा है कि पंजाब के सरदारों ने सिकंदर को १०० फ़ौलादी सिक्के भेंट में दिए। यूनानी लोगों ने जो हिंदुस्तानी सभ्यता का हाल लिखा है उससे ज्ञात होता है कि ईसवी सन् से

चैाथी शताब्दी पूर्व में पंजाब और सिंध की जातियां पत्थर वा लोहे के औज़ारों और हथियारों के प्रयोग के समय की अवस्था से बहुत दिन हुए निकल चुकी थीं। अतएव उत्तरीय हिंदुस्तान में ईसवी सन् से २००० वर्ष पहले से १५०० वर्ष पहले तक के ज़माने को लोहे का ज़माना कह सकते हैं।

३—ऐतिहासिक समय का पुरातत्त्व।

सब से प्राचीन हिंदुस्तानी इमारत—सब से प्राचीन हिंदुस्तानी इमारत जिसका निकटतम समय नियत किया जा सकता है, नैपाल की सीमा पर पिपरावा का स्तूप है। इसका सन् १८६८ ई० में अनुसंधान किया गया था। यह स्तूप गौतम शाक्यमुनि अर्थात् बुद्धदेव की मृत्यु के कुछ दिन बाद ईसवीं सन् से ४५० वर्ष पहले का बना हुआ है। इस स्तूप की बनावट तथा इमारत से उस समय की उत्तरीय हिंदुस्तान की व्यवस्था तथा सभ्यता का सच्चा सच्चा हाल मालूम होता है। प्राचीन ग्रंथ भी इसका समर्थन करते हैं। इससे भी बहुत पहले वैदिक काल में पश्चिमोत्तर के हिंदुस्तानियों की सभ्यता इतनी बढ़ी चढ़ी थी कि प्रोफ़ेसर विल्सन ने लिखा है कि उनकी अवस्था में उस अवस्था से जिसमें ईसवी सन् से ३२६ वर्ष पहले सिकंदर की चढ़ाई के समय, यूनानी लोगों ने उनको पाया था, नाम मात्र का अंतर था। अतएव इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं कि पिपरावा स्तूप से मालूम होता है कि ईसवी सन् से ४५० वर्ष पहले नैपाल की सीमा पर हिंदुस्तानियों में बड़े बड़े कारीगर, होशियार राजगीर, संगतराश और जौहरी थे। इस स्तूप में ईंट का काम बड़ी चतुराई और उत्तमता से किया गया है। बलुए पत्थर का बड़ा संदूक बहुत

ही अच्छी तरह से बनाया गया है। इससे बढ़कर बनाना असंभव था। हीरे, मूंगे, सोने, चाँदी, स्फटिक के आभूषणों तथा बहुमूल्य जवाहिरात से, जो बुद्धदेव की अवशिष्ट अस्थि की स्मृति में स्तूप के नीचे रक्खे गए थे, प्रगट होता है कि उस समय के मनुष्य जौहरी और सुनारी के काम में बड़े निपुण थे। उक्त संदूक के एक बर्तन पर, जो संक्षिप्त लेख अंकित है उससे हिंदुस्तान में लिखने की प्रणाली कब से जारी हुई, इसका ठीक ठीक पता लगता है। इस लेख से उन तमाम उक्तियों और कल्पनाओं का खंडन हो जाता है जिनके अनुसार ईसवी सन् से चौथी शताब्दी पूर्व में भी हिंदुस्तानियों को लिखने का ज्ञान नहीं था।

हिंदुस्तानी कला का प्रारंभिक समय—[ईसवी सन् से २५० पहले से ५० वर्ष बाद तक] वर्तमान समय में हम को पिपरावा स्तूप से अशोक मौर्य्य के समय तक २०० वर्ष का कुछ हाल मालूम नहीं है। कोई भी वस्तु उस समय की उपलब्ध नहीं हुई है। असल में हिंदुस्तानी कला कौशल के इतिहास का प्रारंभ अशोक के समय में ही अर्थात् ईसवी सन् से २५२ वर्ष पूर्व से २३१ वर्ष पूर्व तक कहा जा सकता है और जो जो वस्तुएँ उस समय की हैं वे संभवतः ईसवी सन् से २६० वर्ष पूर्व के बाद की हैं। उनकी संख्या बहुत काफ़ी है और वे पूर्ण रीति से सुरक्षित हैं। उनसे सम्राट् अशोक के समय के कला कौशल का अच्छा ज्ञान हो सकता है। मौर्य

शैली जिसमें कालांतर के प्रभाव और स्थानीय लोकव्यवहारों की भिन्नता से बहुत कुछ परिवर्तन होता रहा, कई शताब्दियों नक प्रचलित रही। अतएव हिंदुस्तान की रूपाकार कला का प्रारंभिक समय करीब करीब ईसवी सन् से २५० वर्ष पहले से ५० वर्ष बाद तक कहा जा सकता है। बहुत सी चीज़ें ईसवी सन् से दूसरी तथा तीसरी शताब्दी पूर्व की हैं।

प्रारंभिक समय का अवशेष—उस समय की इमारतों के खँडहर प्रायः सब के सब बौद्ध धर्म के हैं। मध्य हिंदुस्तान में भूपाल रियासत में साँची की इमारतें तथा अनेक स्तूप पूर्ण रूप मे सुरक्षित हैं। इसी प्रदेश में नागौद रियासत के अंतर्गत भरूट की इमारतें तोड़ डाली गई हैं, परंतु जो मूर्त्तियाँ वहाँ की बची हैं वे बड़े ही महत्त्व और उपयोग की हैं। प्राचीन राजधानी पाटलीपुत्र तथा महाबोधी मंदिर की जो बुद्ध गया के नाम से प्रसिद्ध है, इमारतें यद्यपि खँडहर हो गई हैं तौ भी बड़ी ज़रूरी हैं। मथुरा तथा पश्चिमी हिंदुस्तान के कुछ प्राचीन गुफामंदिरों से उस समय की अनेक मूर्त्तियां मिलती हैं, और अशोक के अनेक स्तंभों से उसके समय के कला कौशल का पता लगता है।

यूनानी तथा ईरानी प्रभाव—यद्यपि प्राचीन काल की मूर्त्तियों में वास्तविक जीवन का निरूपण सदा हिंदुस्तानी ही रहा है, तथापि उनकी बनावट और कल्पित देवताओं की आकृति संभवतः यूनानी है और उस यूनानी कला कौशल के

मुख्य मुख्य गुणों को सूचित करती है। इमारतों को उभड़ी हुई मूर्त्तियों से सजाने में अनुमानतः ईरानियों की नक़ल की गई है, परंतु हिंदुस्तानी इमारतों का ढंग और काम ईरानी इमारतों से इतना भिन्न है और यूनानी इमारतों से इतना मिलता जुलता है कि अनुमान यह किया जाता है कि हिंदुस्तानी शिल्पकारों ने ईरानियों की नक़ल नहीं की, किंतु यूनानियों की नक़ल की। यूनानी लोग पत्थर में उभड़ी हुई मूर्त्तियों को, जैसी साँची और भरूट में हैं, बहुत पसंद करते थे। इसमें संदेह नहीं कि इस प्रकार की हिंदुस्तानी मूर्त्तियाँ यूनानी मूर्त्तियों की अपेक्षा बहुत नीचे दर्जे की हैं, परंतु दोनों की बनावट के ढंग और उसूल एक से ही हैं। हिंदुस्तानी तक्षण शिल्प की बाह्य प्रत्यक्ष सुंदरता अनुमानतः यूनानी शिल्प के अनुकरण के कारण है, जो चित्रांकित मूर्त्तियों के आधार पर बनी है। हिंदुस्तान के मौर्य्य राज्य तथा एशिया, युरोप, अफ्रिका के राज्यों में, जो घनिष्ट संबंध था, उस से इस बात के जानने में कुछ भी कठिनाई नहीं होती कि किस प्रकार पश्चिम के शिल्प विषयक विचारों का हिंदुस्तान में प्रवेश हुआ। मौर्य समय में अर्थात् ईसवी सन् के ३२१ वर्ष पहले से १८० वर्ष पहले तक और उसके बाद भी कई शताब्दियों तक भूमि और जल, दोनों मार्गों द्वारा पूर्व पश्चिम में समागम रहा और यूनान तक युरोप के कला कौशल को हिंदुस्तान में लाने के अवसर मिलते रहे। हिंदुस्तान की प्राचीन कला में केवल नाटो हीपू

अंश नहीं हैं। ईरान का प्रभाव भी प्रत्यक्ष मालूम होता है। आकेमीनिया राज्य की गोल स्तंभाकार इमारतों के नमूने पर अशोक के स्तंभ तथा अन्य अनेक इमारतें बनीं और उनमें तक्षण वगैरः का काम हुआ। अशोक स्तंभों के सिरों पर ईरानी और यूनानी दोनों अंश मिश्रित पाए जाते हैं। हिंदुस्तान में पत्थर का अत्यंत प्राचीन काम इरानी, यूनानी और हिंदुस्तानी तीनों ढंग का मिला हुआ है। उसके लिये कोई एक नाम नहीं दिया जा सकता। अतएव हिंदुस्तानी तक्षण शिल्प की प्राथमिक अवस्था को जिसका समय ईसवी सन् के २५० वर्ष पहले से ५० वर्ष बाद तक है, प्राथमिक संप्रदाय के नाम से पुकारना उचित है।

दूसरा अर्थात् कुशन समय—हिंदुस्तान के काम का दूसरा और सब से अच्छा समय सन् ५० ईसवी से ३५० ईसवी तक है। उत्तरीय हिंदुस्तान के उस समय के मुख्य वंश के नाम पर उस समय को भी कुशन काल कह सकते हैं।

रोमी प्रभाव—उक्त ३०० वर्षों में अर्थात् सन् ५० ईसवी से ३५० ईसवी तक विशेष कर पालमीरा के नष्ट होने के समय अर्थात् सन् २७२ ईसवी तक हिंदुस्तानी राज्यों का रोम के राज्य से जितने हैड्रियन राजा के समय अर्थात् सन् ११७ ईसवी से १३८ ई० तक कुशन राज्य की सीमा तक अपना अधिकार कर लिया था, व्यापार आदि बातों में पूरा पूरा संबंध था। यूनानी शिल्प ने इस समय रोमी राज्य और शैली

के प्रभाव से सर्वदेशीय रूप धारण कर लिया था। इसी का परिणाम है कि पंजाब में हिंदुस्तानी बौद्ध तक्षण शिल्प के काम में तथा पालमीरा के समकालीन मूर्त्तिपूजकों के काम में अथवा ईसाइयों की कब्रों में बहुत कम भेद मालूम होता है। कारिंथ के मंदिर का, जो रोम में बहुत ही सुंदर और नाना रूप से अलंकृत था, पंजाब के राजगीरों और तक्षणकारों ने स्वतंत्रता से अनुकरण किया और रोमी-यूनानी शैली में ईरानी शैली को मिलाते हुए तनिक भी संकोच नहीं किया। शिल्पकारों ने केवल वर्तमान शैली का अनुकरण किया। इसका कोई भी विचार नहीं किया कि वे बौद्धों का काम करते हैं या मूर्त्तिपूजकों का अथवा ईसाइयों का। जिस तरह कुशन काल के हिंदुस्तानी तक्षणकारों ने रोमी-यूनानी ढंग को ग्रहण किया और उसमें ईरानी ढंग मिलाया, उसी तरह आज कल एशिया और युरोप के ढंग में मेल हो रहा है और इस बात पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता कि उनमें सादृश्य या सांगत्य भी है या नहीं? शिल्पादिक के काम में हिंदुस्तान ने सदा दूसरों का अनुकरण किया है और हिंदुस्तान में जितने नमूने हैं, उनकी उत्पत्ति प्रायः विदेशी ही है।

तक्षण शिल्प के दो मुख्य संप्रदाय—कुशन काल की मूर्त्तियों के ख़ास ख़ास नमूने गांधार और अमरावती, इन दो सम्प्रदायों में विभाजित हैं। पेशावर के उत्तर में यूसफ़ज़ई तथा आस पास के कुछ भागों से मिलकर प्राचीन गांधार

प्रांत घना हुआ था। हिंदुस्तानी, रोमी तथा यूनानी तक्षण शिल्प का काम जिसको प्रायः यूनानी बौद्ध कहते हैं, इसी प्रांत में विशेष कर पाया जाता है और इसी नाम से प्रसिद्ध है। अमरावती का शिल्प विंध्याचल के दक्षिण में कृष्णा नदी के किनारे पर केवल एक ही स्थान में पाया जाता है। इस समय की कुछ सुंदर मूर्त्तियाँ मथुरा में पाई जाती हैं। डाक्टर स्टीन ने अभी हाल में गांधार संप्रदाय के शिल्प का पता चीनी तुर्किस्तान में, खुतन में, लगाया है।

गांधार की मूर्तियाँ—हिंदुस्तान में किसी भी स्थान की मूर्त्तियों से युरोप में इतना आंदोलन नहीं हुआ जितना गांधार की मूर्त्तियों से, जो पेशावर के उत्तर में यूसफ़ज़ई प्रांतस्थ काबुल या स्वात नदियों की निकटवर्त्तिनी घाटियों के बौद्ध स्थानों में बड़ी अधिकता से पाई गई हैं। इस तरह की मूर्त्तियों की संख्या इतनी अधिक है कि उन्हें देखकर बड़ा आश्चर्य होता है। सैकड़ों मूर्त्तियाँ कलकत्ता, लाहौर, वोकिंग, लखनऊ, ब्रिटिश म्यूज़ियम तथा साउथ कैंसिंगटन में रक्खी हुई हैं। सैकड़ों यहाँ वहाँ छोटी छोटी जगहों में रक्खी होंगी और हज़ारों बौद्ध मंदिरों के खँडहरों में पड़ी होंगी।

गांधार मूर्त्तियों में अधिकतर ऐसी हैं जो बौद्ध मंदिरों तथा उनसे संबंध रखनेवाली इमारतों को अलंकृत करने के लिये मिट्टी के स्लेटों पर उभरी हुई बनाई गई थीं। मंडलाकार

मूर्त्तियाँ भी पाई जाती हैं और पलस्तर किए हुए सिर भी बहुत से हैं। सामान्य रूप से इस संप्रदाय का शिल्प रोम के समकालीन शिल्प से अधिकतर है।

तक्षण शिल्प का ह्रास—सन् ३०० ई० के बाद हिंदुस्तान में तक्षण शिल्प का रूप बदल गया। यूनानी अंश जाता रहा और बिलकुल हिंदू ढंग हो गया। गुप्त समय में अर्थात् पाँचवीं छठी शताब्दियों में कुछ मूर्त्तियाँ वास्तव में उत्तम और प्रशंसनीय बनीं, परंतु बाद में मनुष्य और जानवर दोनों की मूर्त्तियाँ प्रायः बेढंगी और साधारण बनने लगीं। प्रकृति के नियमों की ओर कुछ भी ध्यान न रहा। उनकी शक्ति को प्रगट करने के लिये आंगोपांग की वृद्धि की जाने लगी। कई कई सिर की और कई कई शस्त्रों को धारण करनेवाली देवी देवताओं की मूर्त्तियाँ जो माध्यमिक काल के मंदिरों की छतों और दीवारों में अधिकता से देखी जाती हैं, बड़ी ही विषम और कराल हैं। सुंदरता का उनमें नाम तक नहीं। परंतु इसके विपरीत वास्तु विद्या का गौरव कभी कभी बहुत बढ़ गया। उस समय की मूर्त्तियों में चाहे कितने ही प्रत्यक्ष दोष हों परंतु वे ऐसी भिन्न भिन्न हैं और इतने परिश्रम से बनी हुई हैं और उनकी संख्या भी इतनी अधिक है कि उनके दिग्दर्शन से दर्शकों को आश्चर्य हो आता है और वे उनकी प्रशंसा किए बिना नहीं रह सकते। तमाम ज़मानों में हिंदू राजगीर असाधारण विचित्रता से असीम संकुलता की

अलंकृत मूर्त्तियाँ बड़े ही कला कौशल्य से बनाते रहे हैं। मालूम होता है कि बड़ी बड़ी माध्यमिक इमारतें अखिल में अनर्गल अलंकारों को दिखलाने के लिये बनाई गई हैं जिनका इतनी अधिकता से प्रयोग किया गया है कि कोई स्थान उनसे ख़ाली नहीं दिखाई देता और उनके देखते देखते आँखें भी थक जाती हैं।

धर्म और तक्षण—चौथी शताब्दी के प्रारंभ तक पुरातन भारत के कला कौशल के अवशिष्ट भाग विशेष कर बौद्ध धर्म के हैं। गुप्त राजाओं के समय में सन् ३२० ई० से ४८० ई० तक ब्राह्मण हिंदू धर्म का पुनः उत्थान हुआ और बौद्ध धर्म का शनैः शनैः ह्रास होने लगा। परंतु बौद्ध धर्म का तीव्र उच्छेद नहीं हुआ। यह मुसलमानी विजय अर्थात् बारहवीं शताब्दी के अंत तक दयालु पाल राजाओं के शासन में प्राचीन मगध (बिहार) में बराबर चलता रहा। अन्य भागों में भी इसके इस समय तक के चिह्न पाए जाते हैं। व्यापारी लोगों ने जो विशेषकर बौद्ध धर्मानुयायी थे, मध्य तथा दक्षिणी हिंदुस्तान में बौद्ध धर्म की क्षति होने पर बौद्ध धर्म से मिलते जुलते जैन धर्म को ग्रहण कर लिया। बुँदेलखंड में ११वीं और १२वीं शताब्दी की जैन मूर्त्तियाँ अधिकता से पाई जाती हैं, परंतु उस समय की बौद्ध मूर्त्तियाँ बहुत ही कम हैं। दक्षिण की बृहत्काय नग्न जैन मूर्त्तियाँ दूसंसार की अद्भुत चीज़ों में से हैं। मैसूर राज्य के अंतर्गत

श्रवण बेलगुल में पहाड़ की चोटी पर ५७ फुट ऊँची मूर्त्ति है। यह एक ही पाषाण खंड में से कटी हुई है। इसी प्रकार की वृहत्काय मूर्त्तियाँ दक्षिण कनारा में येनूर और कारकल में भी हैं। पिछली मूर्त्ति सन् १४३२ ई० में बनी। शिल्प सौंदर्य में इन मूर्त्तियों का अधिक महत्व नहीं है। ग्वालियर में जो चट्टानों में बड़ी बड़ी मूर्त्तियाँ बनी हुई हैं, वे भी जैन हैं और उसी समय की हैं। वे सन् १४४० और १४७३ ई० के बीच की बनी हुई हैं। पिछले समय के बौद्ध लोग जैनियों और [ब्राह्मण] हिंदुओं के समान ही मूर्त्ति-पूजन करते थे और इन तीनों मतों के उपासक प्राचीन काल के समान ही प्रतिष्ठा और उपासना करते थे। माध्यमिक काल की बिहार की बौद्ध मूर्त्तियाँ हिंदू-मंदिरों की मूर्त्तियों से बिलकुल मिलती जुलती हैं और इन दोनों के पहचानने में इस विषय के विद्वान भी गड़बड़ा जाते हैं। साधारण रूप से जैन मूर्त्तियाँ बौद्ध मूर्त्तियों से नग्न होने के कारण पहचानी जाती हैं, परंतु सदैव ऐसा नहीं होता। इसका कारण यह है कि इन दोनों के उपकरणों में अधिक अंतर नहीं है।

प्राचीन मुसलमानी इमारतों में हिंदू अलंकार—जब मुसलमान लोगों ने हिंदुस्तान में अपने को धीरे धीरे जमा लिया और पंजाब से आगे बढ़ कर पूर्व और दक्षिण को भी जीत लिया तब उन्होंने अपनी धार्मिक क्रियाओं की आवश्यकता तथा मध्य एशिया के लोगों की रुचि के अनुसार

नवीन प्रकार की इमारतें बनाना शुरु किया। परंतु ये लोग जो हिंदुस्तान को जीतने के अभिप्राय से आए थे, अपने साथ बहुत से राजगीर और कारीगर नहीं लाए थे। इससे इनको लाचार अपने महल और मसजिदें हिंदू कारीगरों की मदद से बनानी पड़ीं। इस कारण अकबर के समय तक की तमाम प्राचीन मुसलमान इमारतों में हिंदू चिह्न दिखाई देते हैं, और बहुती इमारतें आधी हिंदू और आधी मुसलमानी ढंग की हैं। प्रारंभ की मुसलमानी इमारतों के विषय में अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है। उनमें ठीक उसी प्रकार के भाँति भाँति के ज्यामिति के आकार तथा सुंदर पुष्प बने हुए हैं जैसे आबू, खजुराहा तथा हिंदुस्तान के अन्य अनेक मंदिरों में वर्तमान हैं।

विदेशीय अलंकार—परंतु अंत में हिंदुस्तानी अलंकार का स्थान विदेशीय अलंकार ने ले लिया अर्थात् दूसरे देशों के समान यहाँ की इमारतों में अलंकार होने लगा। मुसलमानी इमारतों का एक अलंकार यह था कि उनमें तरह तरह का पच्चीकारी का काम होता था। प्राचीन इमारतों में जिनमें कुतब मसजिद के दक्षिण की ओर अलाउद्दीन का दरवाज़ा जो सन् १३१० ई० में बना था, सब से प्रसिद्ध है। पच्चीकारी का काम केवल सुफ़ेद संगमरमर के चौड़े टुकड़ों पर हो रहा है जो लाल रंग के बलुए पत्थर में जड़े हुए हैं। देखने में यह काम बड़ा सुंदर मालूम होता है। अहमदाबाद

में अहमदशाह की बेगम की क़बर पर सीप संगमरमर में जड़ा हुआ है तथा फ़तेहपुर सिकरी में सलीम चिश्ती की क़बर पर भी लकड़ी के सायवान में यह काम बना हुआ है। फ़तेहपुर सिकरी में अकबर की मसजिद में भी जो इसी साल अर्थात् सन् १५७१ ई० में मक्के की एक मसजिद की नक़ल पर बनाई गई थी, अरबी और ईरानी नमूने के ज्यामिति के आकारों का सुफ़ेद संगमरमर पर पच्चीकारी का काम हो रहा है। बीच बीच में कहीं कहीं पर नीले और हरे रंग का (मीना) भी लगा हुआ है। पच्चीकारी का सुंदर फ़र्श उदयपुर के राय आंगन महल में उसी समय का लगा हुआ है। ये सब प्रकार के प्राचीन पच्चीकारी के काम एशियाई नमूनों से लिए गए थे।

पीटरा दूरा—जहाँगीर के समय में युरोप के शिल्पकारों और कारीगरों ने जो उसके यहाँ नौकर थे फ्लोरेनटाइन शैली का पच्चीकारी का काम जारी किया। इसी को पीटरा दूरा कहते हैं। शाहजहाँ के समय में इसका खूब प्रचार हुआ और यही सब से अच्छा समझा जाने लगा। इसमें पशब, प्रागिन और सुलेमानी जैसे कड़े पत्थरों के बारीक बारीक टुकड़ों को आवश्यकतानुसार काट कर बड़ी सुंदरता से फ़र्श में सिमेंट से लगाया जाता है। इस तरह का पच्चीकारी का काम यदि चतुर कारीगरों द्वारा कराया जाय तो बड़ा सुंदर मालूम होता है। यद्यपि इस काम की उत्पत्ति युरोप में

हुई मालूम होती है परंतु इसका घाट यशियाई मालूम होता है। जिन्होंने आगरे और दिल्ली को देखा है वे इस प्रकार के काम से जो ताज, एतमादुद्दौला और शाहजहाँ के राजमहलों में अधिकता से हो रहा है, भलो भाँति परिचित हैं। लाहौर के पास जहाँगीर की सुंदर समाधि में शिला, पाषाण तथा मृत्तिका पर मय प्रकार का काम बड़ी अधिकता से हो रहा है। कोल साहब का कथन है कि हिंदुस्तान में ऐसी कोई इमारत नहीं है जिसमें इतनी तरह की पच्चीकारी, जड़ाई और खची का काम हो रहा हो।

प्रारंभिक मुग़ल चित्रविद्या—सब से पहले अकबर ने मकानों को सजाने के लिये चित्रणकारी का प्रचार किया और उसी ने फ़ारिस, तबरिज़ और शीराज़ से चित्रकारों को बुलाया, परंतु मेजर कोल का कथन है कि चित्रकारी के प्रारंभिक उदाहरण अहमदाबाद में शाह आलम की समाधि के गुंबद के नीचे (१४७५ ई० में), ग्वालियर में मानसिंह के मंदिर की दीवारों पर (सन् १५०७ ई० के लगभग) तथा दिल्ली की किला कोहन मसजिद की छतों पर (सन् १५४० ई० में) पाए जाते हैं। अकबर तथा उसके बेटे जहाँगीर और पोते शाहजहाँ ने चित्रकारी का स्वतंत्रता से प्रचार किया और क़ुरान की आज्ञा न होने पर भी मनुष्यों के चित्र खींचने की आज्ञा दे दी।

मुग़ल संप्रदाय की चित्रकारी पर कुछ ईरानी चित्रकारी

और कुछ कुछ युरोप की चित्रकारी का प्रभाव पड़ा। चातुर्य, सुंदरता-संपादन तथा सूक्ष्मता में यह चित्रकारी बहुत ही बढ़ी चढ़ी है। यद्यपि इस संप्रदाय के चित्रकारों ने १८ वीं शताब्दी में राग रागिनियों के कुछ सुंदर चित्र बनाए हैं, परंतु अकबर को अपने उद्योग अर्थात् चित्रकारी को एक महान् जातीय संप्रदाय बनाने में सफलता नहीं हुई। वर्तमान काल में बंगाल तथा अन्य स्थानों के चित्रकार भी अभी तक इस विषय में बहुत पीछे हैं।

इंडो-ईरानी संप्रदाय के चित्रकार केवल राजाओं और अमीरों को प्रसन्न करने के लिये चित्र बनाते रहे। सर्वसाधारण पर उनका कोई प्रभाव नहीं हुआ। हिंदुस्तान में कला कौशल की रुचि प्रायः कुछ गिनी चुनी जातियों में ही रह गई है। बड़े बड़े विद्वानों ने इसकी ओर आज तक कुछ ध्यान नहीं दिया है। सूक्ष्म चित्रकारी अब तक आगरे और दिल्ली में पाई जाती है वहाँ पर जो दो चार चित्रकार हैं, यद्यपि उनके चित्र सुंदर होते हैं परंतु उनमें कोई जीवन और सत्ता नहीं होती। इतिहासकार की अपेक्षा वे जिज्ञासु के अधिक काम के हैं। मुग़ल बादशाहों के आश्वासन देने और उत्साहित करने पर, उस समय के चित्रकारों ने राजकीय पुस्तकालयों के अति रम्य मनोहर चित्र बनाए, परंतु अब वे बहुत कम प्राप्त हैं। इस प्रकार के चित्रों का एक उत्तम संग्रह एक मुसलमान महाशय ने पटना शहर को भेंट किया है।

४—मुद्रातत्त्व।

(१) उत्तरीय हिंदुस्तान के प्राचीन सिक्के।

हिंदुस्तान में सिक्कों का प्रचार—जहाँ तक अनुमान किया जाता है हिंदुस्तान में सिक्कों (नियत मूल्य और नियत वज़न के धातु के टुकड़ों) का प्रचार ई० सन् से सातवीं शताब्दी से पूर्व हुआ। मालूम होता है कि इस समय हिंदुस्तान का अन्य देशों से समुद्र के मार्ग से व्यापार प्रारंभ हो गया था। विदेशीय लोगों से व्यापार जारी रखने के कारण ही हिंदुस्तानियों को धातु के सिक्कों के प्रचार करने तथा किसी भाषा की वर्णमाला द्वारा लिखने की ज़रूरत पड़ी होगी।

ठप्पे के सिक्के—पूर्वीय विचारों के अनुसार सिक्कों का जारी करना या चलाना, यह काम राज्य का नहीं है, किंतु व्यापारियों और साहूकारों का है। इसी विचारानुसार हिंदुस्तान में सब से प्राचीन सिक्के राजा द्वारा नहीं बनाए गए, किंतु उन्हें पृथक् पृथक् व्यक्तियों ने बनाए। ये धातु के कुछ कुछ आयताकार टुकड़े हैं। कभी कभी ज़रूरत पड़ने पर वज़न पूरा करने के लिये इनको किनारों पर से छाँट भी दिया करते थे। कोई कोई सिक्के बिलकुल कोरे होते थे। बहुत से एक

तरफ़ अर्थात् पीछे की तरफ़ ख़ाली होते थे, परंतु बहुतों के पीछे ठप्पे या छेनी से एक वा दो निशान खुदे हुए होते थे। सिक्के के मुख वा सिर की तरफ़ देखने से बहुत से ऐसे निशान जाहिर होते हैं जो भिन्न भिन्न समयों में पृथक् पृथक् ठप्पों से बनाए गए। इस कारण से इस प्रकार के सिक्कों को इस विद्या के विद्वान् ठप्पे के सिक्के कहते हैं। मनु इनको पुराने और दक्षिणीय ग्रंथकार शलाका के नाम से प्रसिद्ध करते हैं। ये सिक्के खोटी चाँदी के हैं। इनमें लगभग पाँचवाँ भाग खोर और मैल का मिला हुआ है। ठप्पे के ताँबे के कुछ सिक्के बनारस के पास बहुत पुरानी जगहों में पाए गए हैं। वे अब तक सब से प्राचीन मालूम होते हैं। वे चाँदी के सिक्कों से बहुत ज़्यादह लंबे मालूम होते हैं। मालूम होता है कि वे किसी बड़े टुकड़े में से काटकर दूसरे वज़न के बराबर बनाए गए हैं। वे चाँदी के सिक्कों से पुराने मालूम होते हैं। संभव है कि वे बयलूनिया से भूमि के रास्ते के व्यापार के स्मृति-जनक हों।

ढले हुए सिक्के—प्रायः ताँबे वा काँसे के ढले हुए सिक्के उत्तरीय हिंदुस्तान में ठप्पे के सिक्कों के साथ हा साथ बहुत दिनों तक अधिकता से चलते रहे। उनमें से कुछ पर ईसवी सन् से ३०० वर्ष पूर्व के अक्षर बने हुए हैं।

बैक्टीरिया के सिक्के—सिकंदर के पंजाब और सिंध

में ई० सन् से ३२६ वर्ष पूर्व के मार्च महीने से ३२५ वर्ष पूर्व के सितंबर महीने तक चढ़ाई करने से हिंदुस्तान के सिक्कों पर कुछ भी प्रत्यक्ष असर नहीं हुआ। ईसवी सन् से तीसरी 'शताब्दी पूर्व' के मध्य में बैक्टीरिया की या स्वतंत्र रियासत सीरिया के सेलियुसिड राज्य से पृथक् हो गई और अगली शताब्दी में बैक्टीरिया के कई महाराजाओं ने विशेष कर यूकरेटाइडीज़ और मीनेंडर ने हिंदुस्तान पर चढ़ाइयाँ कीं। उनके सिक्के अब तक पाए जाते हैं। बैक्टीरिया के राज-घराने के संबंधियों और रिश्तेदारों ने अपने को अफ़ग़ानिस्तान, बिलूचिस्तान और पंजाब के मुल्कों में जिनमें बहुत ज़्यादा यूनानी भाषा का प्रचार हो गया था, राज्याधिकारी बना लिया। इन्होंने यूनानी ढंग पर चाँदी और ताँबे के बहुत से सिक्के बनाए। ईसवी सन् से १५० वर्ष पहले तक उनके उच्चश्रेणी के कला कौशल का पता लगता है।

पंजाब को छोड़ कर शेष हिंदुस्तान में पश्चिमीय विचारों का कुछ प्रभाव नहीं पड़ा और मध्यदेशवासी लाखों मनुष्य निज के देशी सिक्कों द्वारा लेने देन करते रहे। इस कारण से अशोक या अन्य किसी मौर्यवंशज राजा के नाम के सिक्के नहीं मिलते।

कुशन सिक्के—कुशनवंश के इंडो-रोमन सिक्के जो इंडो-सीदियन के नाम से प्रसिद्ध हैं, हिंदुस्तान के मुद्रा विषयक या सिक्के संबंधी इतिहास में प्रसिद्ध हैं। यद्यपि कुशन

राजा अपने सिक्कों में बहुत सी बातें पूर्वीय ढंग की रखते थे परंतु उन्होंने उनका आकार बिलकुल पश्चिमीय ढंग पर कर लिया था। उनके समय से उत्तरीय हिंदुस्तान के मुख्य मुख्य सिक्के दोहरे ठप्पे के बनने लगे। वे बादशाह की ओर से जारी होते थे और उन पर या तो बादशाह का नाम होता था या उसकी मूर्त्ति होती थी।

गुप्त सिक्के—सन् ३२० ई० में एक नवीन राज्यवंश का प्रादुर्भाव हुआ। इस वंश के संस्थापक ने अपने को चंद्रगुप्त के नाम से प्रसिद्ध किया और उसने प्राचीन राजधानी पाटलीपुत्र को अपनी राजधानी बनाया। गुप्त राजाओं के सोने के सिक्के जिनको सर ए० कनिंघम ने हिंदुस्तान के सिक्कों में सब से अधिक आवश्यक और मनोरंजक बतलाया है, वास्तव में कुशन सिक्कों के ही अनुरूप हैं। सर्वोत्तम गुप्त सिक्कों की कृत्ति में जो सुंदरता पाई जाती है, उसका साहित्य संबंधी समुत्थान से जिसका कालिदास के काव्य में बड़ा मनोहर वर्णन है, बड़ा घनिष्ट संबंध मालूम होता है। संस्कृत भाषा का इस समय में कितना आदर था, यह बात सिक्कों के लेख से बिलकुल स्पष्ट है। जो न तो यूनानी में हैं न प्राकृत में, किंतु संस्कृत में हैं। इस साहित्य तथा कृति संबंधी समुत्थान की कीर्त्ति बहुत दिनों तक बनी रही। सिक्कों से मालूम होता है कि पाँचवीं शताब्दी में ही अवनति के चिह्न

प्रगट होने लगे। सन् ४८० ई० के लगभग तो हूण लोगों की अंतिम विजय से ये संपूर्ण गुण नष्ट हो गए।

गुप्त समय के पहले भिन्न भिन्न प्रकार के सिक्के धीरे धीरे केवल एक ही तरह के बनने लगे। ऊपर की तरफ़ बादशाह का खड़ी मूर्ति का चित्र और पिछली तरफ़ कमल के फूल पर एक देव की मूर्ति थी। सब इसी नमूने के बनने लगे। कई सौ वर्ष तक उत्तरीय हिंदुस्तान में यही नमूना जारी रहा।

बिगड़े हुए सिक्के—गुप्त वंश के अस्त हो जाने पर सैकड़ों देशी राजा तथा असभ्य अशिक्षित हूण लोग असभ्यता में एक दूसरे का अनुकरण करने लगे। सातवीं, आठवीं और नवीं शताब्दियों में फ़ारस के ससानी सिक्कों के सदृश हिंदुस्तान में सिक्के चलते रहे। उनमें अग्निकुंड तथा उसके उपासक बने हुए हे। नवीं शताब्दी के अंत में कई प्रसिद्ध हिंदू कुलों का उदय हुआ। महोबा के चँदेलों ने, दिल्ली के तोमारों ने, कन्नौज के राठोरों ने और चेदी या मध्य हिंदुस्तान के हैहयवंशियों ने एक नई तरह का सिक्का निकाला। मुसलमानों की नक़ल से इसके ऊपर की तरफ़ बादशाह के चित्र के स्थान में तीन पंक्तियों में बादशाह का नाम तथा उपाधि और पीछे की तरफ़ गुप्त सिक्कों के समान देवी की मूर्ति होती थी। ओहिंद के ब्राह्मण राजाओं की (जिन्हें भूल से लोग काबुल के हिंदू राजा कहते हैं) टकसाल के अफ़सरों ने एक दूसरी प्रकार का सिक्का निकाला जिसको इस विद्या के

पंडित, साँड़ और घुड़सवार कहते हैं, क्योंकि सिक्के के अग्र भाग में घुड़सवार की शकल बनी है और पीछे साँड़ की।

(२) मुसलमानी तथा इंडो-युरोपियन सिक्के।

मुसलमानी सिक्के—सन् ७१२ ई० में मोहम्मद बिन क़ासिम ने सिंध को जीता। उसके उत्तराधिकारियों ने बहुत से सिक्के चलाए। उनमें कुछ ताँबे के थे, परंतु अधिकतर चाँदी के ही थे। हिंदुस्तान के सब से पुराने मुसलमानी सिक्के ये ही हैं। ये दमिष्क और बग़दाद के ख़लीफ़ाओं की टकसाल के ढंग पर बनाए गए थे।

ग़ज़नी के सिक्के—महमूद ग़ज़नवी ने जो सिक्के चलाए उनमें विशेष बात यह है कि उनमें सिरे पर संस्कृत में अरबी लेख का आशय अंकित है। उसके बेटे मसूद तथा पोते मादूद ने भी ओहिंद के राजाओं के 'साँड़ और घुड़सवार' नमूने के उसी टकसाल के सिक्के चलाए और उनपर आदमियों या जानवरों के चित्र बनाने में, जो कुरान के विरुद्ध हैं, तनिक भी संकोच नहीं किया।

ग़ोरी सिक्के—हिंदुस्तान में मुसलमान राज्य का असली संस्थापक मोइज़ुद्दीन मोहम्मद बिन साम था जो शहाबुद्दीन या मोहम्मद ग़ोरी के नाम से प्रसिद्ध हुआ। उसके ग़ज़नी के सिक्के तो बग़दाद के ख़लीफ़ाओं के समान हैं, परंतु हिंदुस्तानी सिक्के ओहिंद के नमूने के हैं। कुछ सोने के सिक्कों में जो उसने गंगा की घाटी में जारी किए, असल में लक्ष्मी

मूर्त्ति बनी हुई है। परंतु इसके बाद अकबर के समय
क मुसलमानी सिक्कों में मूर्त्ति का अभाव है। अकबर तथा
नके बेटे जहाँगीर ने फिर से कुछ सिक्कों पर मूर्त्ति बन-
नी आरंभ की।

तुग़लकी सिक्के—मोहम्मद बिन तुग़लक हिंदुस्तान
इतिहास में एक विलक्षण प्रकार का मनुष्य हुआ है।
यपि वह विद्वान् और धार्मिक पुरुष था, परंतु बड़ा ही
र्दयी और विक्षिप्त था। टामस साहब ने उसको 'टकसा-
यों के राजा' की पदवी दी है। वास्तव में वह उस उपाधि
योग्य था, क्योंकि उसके ख़ज़ाने में भाँति भाँति के सुंदर
क्के थे जिन पर अरबी में बड़ी सुंदरता से लेख अंकित
। इसी कारण से तमाम हिंदुस्तानी बादशाहों से उसके
क्के बढ़े चढ़े हैं। इस विक्षिप्त राजा ने एक बहुत बड़ी
ख्या में पीतल के सिक्के बनवाए और प्रजा को हुकुम दिया
क इनको चाँदी के सिक्कों के मूल्य में स्वीकार किया जाय,
रंतु लोगों ने लेने से इनकार किया। इस दुष्ट अन्यायी की
त्यु के १०० वर्ष बाद इन सिक्कों के ढेर के ढेर तुग़लकाबाद
किले में लगे हुए थे जिन से प्रगट होता है कि उसे इस
ाम में सफलता नहीं हुई।

सूरी सिक्के—हुमायूँ के विपक्षी शेरशाह अफ़ग़ान को
ो यह यश प्राप्त है कि उसने रुपए पैसे की दोष-रहित नवीन
यवस्था को प्रचलित किया जो संपूर्ण मुग़ल काल में बराबर

जारी रही। ईस्ट-इंडिया कंपनी ने सन् १८३५ ई० तक इसे जारी रक्खा और प्रचलित अँग्रेज़ी सिक्के का भी इसी पर निर्धार हुआ। शेरशाह के समय का चाँदी का रुपया जिसका १८० ग्रेन तौल है और जिसमें १६५ ग्रेन खरी चाँदी है, प्राय मूल्य में प्रचलित रुपए के बराबर ही है। उस पर नागरी लिपि में बादशाह का नाम तथा सामान्य अरबी लेख अंकित है।

अकबरी सिक्के—अकबर ने पहले तो शेरशाह के ढंग पर सिक्के बनाए परंतु तीसवें वर्ष अर्थात् सन् १५८४ ई० में उसने अपने ईश्वरीय मत का सिक्कों में उल्लेख किया। उसके बाद जितने सिक्के बने, सब में ईश्वरीय संवत् दिया हुआ है। इस संवत का प्रथम वर्ष फ़रवरी सन् १५५६ ई० से प्रारंभ होता है। अकबर ने अरबी महीनों के नाम की जगह फ़ारसी महीनों के नाम रक्खे। बहुत से सिक्कों में 'अल्लाह अकबर' मुद्रित है। इसके दो अर्थ हैं—या तो अल्लाहो (ईश्वर) बड़ा है, या अकबर अल्लाह (ईश्वर) हैं। अकबर ने शायद यह नाम इस लिये चुना था कि कुछ गिने चुने लोगों को जो उसके मत के भेदों और गुप्त रहस्यों से परिचित थे, दोनों अर्थों का बोध हो।

जहाँगीर तथा उसके उत्तराधिकारियों के सिक्के—जहाँगीर के सिक्के सुंदरता तथा अन्य अनेक विलक्षण बातों के कारण प्रसिद्ध हैं। हिंदुस्तान में केवल यही एक ऐसा मुसल-

मान बादशाह हुआ जिसने सिक्कों पर अपना चित्र बनवाया। इसके बाद इसके बेटे शाहजहाँ ने इस लोकाचार-विरुद्ध रीति का परित्याग किया और चाँदी सोने के बहुत से सिक्के बनवाए। कट्टर मुसलमान औरंगज़ेब के सिक्के निस्संदेह मुसलमान धर्मानुकूल हैं। उसके निर्बल उत्तराधिकारियों का मुद्रा विषयक इतिहास इस कारण से प्रसिद्ध है कि यद्यपि उनके राज्य में बड़ी अवनति और अशांति फैल रही थी, तथापि सरकारी सिक्कों का वज़न तथा खरापन ज्यों का त्यों बना रहा। उनमें कोई त्रुटि नहीं आई। धीरे धीरे ये ही सिक्के ऐंग्लो-इंडियन हो गए।

कंपनी के सिक्के—ईस्ट-इंडिया कंपनी बहुत दिनों तक छिपे तौर पर बादशाही सिक्कों का अनुकरण करती रही, अंत में उद्योग करने पर जनवरी सन् १७१७ ई० में उसे बंबई में सिक्का बनाने की नियमानुसार आज्ञा मिल गई। सन् १७४२ ई० में आरकट के रुपयों की नकल करने की भी इजाज़त मिल गई और सन् १७५७ ई० में कंपनी की टकसाल कलकत्ते में स्थापित हो गई। परंतु सन् १८३५-३६ के नियमानुसार यह असंतोषजनक रीति भी जाती रही। कंपनी ने मुग़ल बादशाह के नाम के स्थान में विलियम चतुर्थ की मूर्त्ति का अपना ख़ास अँग्रेज़ी सिक्का चलाया और पुराने सब सिक्कों के रद्द करने का हुकुम दे दिया। सन् १८३५ ई० से हिंदुस्तानी रुपया अँग्रेज़ी राज्य के रुपए का एक अंग हो गया।

(३) दक्षिणीय हिंदुस्तान।

दक्षिणीय हिंदुस्तान के सिक्के—दक्षिणीय हिंदुस्तान के सिक्कों में उत्तरीय हिंदुस्तान की अपेक्षा परिश्रम तो अधिक होता है, परंतु लाभ कम है। द्राविड़ देशों का राजनैतिक इतिहास अप्राप्त है, वास्तविक पुरातन सिक्के बहुत ही कम हैं और पीछे के सिक्कों से भी इतिहासकारों को प्राचीन काल का इतिहास मालूम करने में कुछ सहायता नहीं मिलती। यहाँ के सिक्के प्रायः बहुत ही छोटे हैं। कोई कोई तोल में दो ग्रेन से भी कम हैं। जो चित्र उन पर बने हुए हैं वे भद्दे हैं और साफ़ दिखलाई नहीं देते। या तो उन पर कुछ भी लिखा हुआ नहीं है या इतना थोड़ा लिखा हुआ है कि उससे कुछ काम नहीं चल सकता। कुछ बाद के मुसलमानी सिक्कों को छोड़ कर शेष में तारीख़ भी नहीं है। दक्षिण में प्राचीन सिक्कों के अभाव का एक कारण यह भी है कि उत्तर से अनेक लुटेरों ने दक्षिण में चढ़ाइयाँ कीं और जो कुछ उन्हें मिल सका वे सब लूट कर ले गए।

शलाका रूप के ठप्पेदार सिक्के तो उत्तर दक्षिण, दोनों जगहों में प्रचलित थे, परंतु ऐसा जान पड़ता है कि प्राचीन ढले हुए सिक्के दक्षिण में नहीं थे। प्राचीन समय के ठप्पे के बने हुए चाँदी के सिक्के बहुत ही कम हैं और जो हैं वे किसी काम के नहीं हैं। ऐतिहासिक समय में दक्षिण में चाँदी के स्थान में सोने का सिक्का प्रचलित था। सोने का क्य प्रचार

हुआ और कैसे हुआ, यह मालूम नहीं है। जहाँ तक अनुमान किया जाता है सोने की खानों के मिल जाने से चाँदी के स्थान में सोने का सिक्का जारी किया गया।

सिक्कों के तोल का परिमाण—उत्तरीय हिंदुस्तान के समान दक्षिणीय हिंदुस्तान में भी सिक्कों का तोल रत्ती के परिमाण पर निर्भर था जो प्रायः उत्तर में १'८० ग्रेन के बराबर माना गया है। पुरान या ठप्पेदार चाँदी का सिक्का बत्तीस रत्तियों के बराबर तोल में होता था। दक्षिणी लोग कालंजू तथा मंजादी के बीजों को काम में लाते थे। कालजू तोल में ५० ग्रेन के करीब था और मंजादी कालंजू का दसवां हिस्सा अर्थात् ५ ग्रेन के बराबर था। इसके अनुसार पुरान और कालंजू क़रीब क़रीब तोल में बराबर थे। बाद के पोन, होन, बराह, या पैगोड़ा सिक्कों की तोल ५२ ग्रेन के क़रीब थी और छोटे सिक्के बड़े सिक्कों के १० वें भाग के बराबर थे। चालुक्य सिक्कों पर सुअर की आकृति बनी रहती थी, इसी कारण से उनको बराह (सुअर) कहते थे। दक्षिण के इस विलक्षण सोने के सिक्के को सर्वत्र इसी नाम से पुकारते हैं। युरोप के लोग इसको पैगोडा कहने लगे। यह शब्द भगवती या देवी का अपभ्रंश माना गया है।

५–हिंदुस्तान का वास्तु विद्या।

परिभाषा–इस विद्या से केवल किसी प्रकार के मकान वगैरह बनाने का ही तात्पर्य नहीं है, किंतु इसकी परिभाषा इस प्रकार है कि ऐसी उत्तम विद्या जिसके द्वारा काष्ठ, पाषाण या अन्य किसी वस्तु की सुंदर अलंकारिक इमारतें बनाई जाँय। अतएव इसमें और साधारण इमारतों के बनाने या इंजीनियरिंग में भेद है।

लकड़ी की प्रारंभिक इमारतें–यह बात सर्वमान्य है कि प्रारंभ में बरमा, चीन, जापान के समान हिंदुस्तान में भी लकड़ी ही हर एक काम में लाई जाती थी। यदि ईंट या पत्थर लगाया भी जाता था, पर यह नीवों के भरने या इंजीनियरी वगैरह के काम में ही लगाया जाता था। ई० सन् से चौथी शताब्दी पूर्व के अंत तक भी मेगास्थनीज़ ने लिखा है कि चंद्रगुप्त की राजधानी पाटलीपुत्र के चारों तरफ़ लकड़ी की दीवार थी और उसमें तीरों के चलाने के लिये छेद बने हुए थे। जब राजधानी की रक्षा लकड़ी की दीवार से की जाती थी तो इस बात के मानने में तनिक भी संकोच नहीं हो सकता कि उस समय की इमारतें बिलकुल लकड़ी की थीं। गर्म देशों में धार्मिक या प्राइवेट मकानों के लिये पत्थर की अपेक्षा लकड़ी अधिक लाभकारी है। पत्थर का चाहे कभी चलन

हुआ हो, परंतु हिंदू लोग बराबर पहले जैसी इमारतें बनाते रहे और वही ढंग उन्होंने जारी रक्खा। इससे ही ज्ञात होता है कि पहले सर्वत्र लकड़ी का प्रचार था। लकड़ी बहुत दिनों तक नहीं रहती, जल्दी नष्ट हो जाती है। इसी कारण से आजकल लकड़ी की इमारतें देखने में नहीं आतीं। प्रायः सब नष्ट भ्रष्ट हो गई हैं। इसमें संदेह नहीं कि प्राचीन तत्त्ववेत्ताओं ने कुछ स्मारक स्तूपों को ई० सन् से चौथी शताब्दी के पूर्व से भी पहले का बतलाया है। परंतु वे ऐसी बेपरवाही से खोदे गए हैं कि वैज्ञानिक रीति की कुछ भी परवाह नहीं की गई जिसका यह परिणाम हुआ कि वह साक्षी ही नष्ट हो गई जिससे उनके असली समय का पता लगता। वर्तमान में ऐसी कोई भी इमारत नहीं है जिसको हम निश्चयपूर्वक ई० सन् से तीसरी शताब्दी के पूर्व की कह सकें।

पत्थर की इमारतें, स्तूप—ईसवी सन् से पूर्व तीसरी शताब्दी के मध्य में हिंदुस्तान में अशोक का राज्य था। अशोक का सीरिया, मिस्र, मेसोडनिया, एपिरस तथा साइरीन के समकालीन बादशाहों से पत्रव्यवहार था। उसने अपने राज्य में सर्वत्र पाषाण के बड़े बड़े विशाल स्तंभ बनवाए थे और उन पर अपने धार्मिक सिद्धांतों को अंकित कराया था। बौद्ध धर्मावलंबी अशोक ने भारतवर्ष में बौद्ध गुरुओं के स्मरणार्थ सैकड़ों स्तूप (बड़ी बड़ी इमारतें जिनके नीचे शाक्यमुनि या अन्य बौद्ध ऋषियों के स्मारक रक्खे जाते थे)

बनवाए तथा इनके पास ही साधुओं के रहने के लिये अनेक मठ और मंदिर बनवाए। आज कल जो कहीं कहीं पर स्तूप पाए जाते हैं, उनके विषय में हम नहीं कह सकते कि वे अशोक के बनाए हुए हैं या और किसी के। परंतु इसमें कोई भी संदेह नहीं कि बुद्ध गया या भरूट के कटहरे, बरावर की गुफ़ाएँ और पश्चिमीय हिंदुस्तान के सब से प्राचीन गुफ़ामंदिर मौर्यकुल के समय में अथवा अशोक के राज्याभिषेक के कम से कम दो सौ वर्ष के अंदर अंदर बने। साँची के फानाखेदा स्तूप, जिनमें से दो तीन १६ वीं शताब्दी के आरंभ में बिलकुल समूचे थे, तथा दूसरे जिनमें सब से बड़ा ई० सन् से ३००० वर्ष पहले का है, अशोक समय के नमूने हैं।

गुफ़ामंदिर—चट्टान में कटे हुए प्राचीन मंदिर भी उसी समय के होंगे जिस समय के ये स्तूप हैं। गया से १६ मील उत्तर की तरफ़ बरावर के पहाड़ों में कुछ गुफ़ाएँ बनी हुई हैं। उनमें अशोक के छोटे छोटे लेख हैं। इन्हें अशोक ने अपने राज्य के १२ वें या १६ वें वर्ष में आजीविकाओं को समर्पण किया था जो जैनियों के समान एक नग्न संप्रदाय के मालूम होते हैं। उनके पास ही तीन और गुफ़ाएँ हैं। इनको भी अशोक के पौत्र दशरथ ने ईसवी सन् से २१५ वर्ष पहले आजीविकाओं को समर्पण किया था।

गंधार स्मारक—अब हम उन चीजों का वर्णन करते

हैं जो हिंदुस्तान के उत्तर पश्चिम में पाई गई हैं और जो प्राचीन गंधार प्रांत की मानी जाती हैं। जहाँ तक संभावना की जा सकती है वे ई० सन् के प्रारंभ से चौथी शताब्दी तक की हैं और बौद्ध धर्म के महायान संप्रदाय से संबंध रखती हैं। यह धर्म उस प्राचीन बौद्ध धर्म से सर्वथा भिन्न है जिसमें ऋषियों और देवताओं के प्रति मान नहीं था किंतु उनके शव तथा पूज्य चिह्नों की उपासना की जाती थी। गंधार की इन बहुत सी मूर्त्तियों में जो तक्षण शिल्प का काम हो रहा है, उससे यह बात स्पष्ट है कि ये मूर्त्तियां विदेशीय ढंग पर बनाई गईं। ग्रीको-बैक्ट्रीरियन राज्य तो इन तक्षित वस्तुओं से पहले ही जाता रहा था, किंतु अयोनियन तथा अन्य यूनानी लोग अपनी बनाई हुई शिल्प वस्तुओं तथा सामग्री को लेकर बहुत दूर चले गए थे तथा बौद्ध दूत भी पश्चिम में लेवेंट तक निकल गए थे।

गुप्त इमारतें—पाँचवीं शताब्दी में इमारतों का ढंग कई तरह का तथा मनोहर हो गया। सुगमता के लिये इस पिछले समय के ढंग को गुप्त ढंग कहते हैं, क्योंकि सन् ३१९ ई० से ५२० ई० तक हिंदुस्तान में मुख्यतः गुप्तवंशियों का राज्य रहा है, परंतु उनके बाद भी यही ढंग प्रचलित रहा। मंदिरों के शिखर सादे होते थे और आरंभ में क़रीब क़रीब लंबे ऊँचे उठाए जाते थे, परंतु चोटी की तरफ़ अंदर को मुड़े हुए होते थे। चोटी सदा एक बड़े गोल 'अलक'

अर्थात् एक पहलदार चक्के से ढका हुई होती थी जिसके ऊपर एक कलश होता है। परंतु बुर्ज की पीठ एक विलक्षण प्रकार की घोड़े की नाल की शकल के बूटेदार मेनू से ढकी होती थी।

काश्मीरी इमारतें—आठवीं शताब्दी से मुसलमानों की विजय के समय तक की काश्मीर तथा उसके आस पास में ऐसी इमारतें देखने में आती हैं जिनमें कुछ कुछ प्राचीन ढंग मिलता है। उनके देखने से एकबारगी पश्चिमीय इमारतों का स्मरण हो आता है। उनका शेष हिंदुस्तान के शिल्प से कोई भी संबंध नहीं है। इस प्रकार का सब से अच्छा नमूना मार्तंड मंदिर है जो प्राचीन राजधानी अनंतनाग वा इसलामाबाद से लगभग ३ मील के अंतर पर है। क़रीब २२० फुट लंबे और १४२ फुट चौड़े हाते में यह मंदिर बना हुआ है। इसके चारों तरफ़ क़रीब ८० गुफ़ाओं के खँडहर पड़े हुए हैं और पूर्वीय किनारे पर एक बड़ी ड्योढ़ी बनी हुई है। मार्तंड शब्द से प्रगट होता है कि यह मंदिर सूर्य का है। कम से कम ग्यारहवीं शताब्दी तक हिंदुस्तान के उत्तर पश्चिम में सूर्य-पूजा का बड़ा प्रचार था।

कनारा के जैन मंदिर—दक्षिण कनारा में मूड़बिद्री के जैनमंदिरों तथा समाधियों का ढंग भी हिंदू इमारतों के ढंग से भिन्न है। उनमें दोहरी और तेहरी ढालू छतें हैं। समाधियों में एक ही केंद्र की ओर झुकनेवाली अनेक छतें हैं।

उनके देखते ही नेपाल के चैत्यों तथा चीन के बुर्जों का स्मरण हो आता है।

द्राविड़ इमारतें—द्राविड़ देश की इमारतें हिंदुस्तान के अन्य प्रदेशों की इमारतों से बिलकुल भिन्न हैं। वहाँ की इमारतें एक ही नमूने की हैं। उसी में धीरे धीरे परिवर्त्तन होता रहता है, परंतु परिवर्त्तन सदा बुरा ही होता है, अच्छा कभी नहीं होता। जहाँ तक मालूम हुआ है द्राविड़ देश में कोई भी इमारत छठी या सातवीं शताब्दी से पूर्व की नहीं है। सब से उत्तम स्मारक दक्षिणीय भाग में मामल्लपुर-रथ अर्थात् ७ मंदिर हैं जो मद्रास के दक्षिण की ओर समुद्र के किनारे पर बने हुए हैं। इसके बाद पत्तदकल में विरूपाक्ष का मंदिर तथा एलोरा में कैलाश की चट्टान में कटा हुआ मंदिर है। पीछे के समय की द्राविड़ इमारतों में तक्षण का काम बहुत ज़्यादा होने लगा। यद्यपि जड़ाई पर इतनी शक्ति और परिश्रम व्यय किया जाता था और जन साधारण को यह बड़ा सुंदर मालूम होता था, परंतु स्मरण रहे, इमारत के भिन्न भिन्न भागों को ठीक तौर पर तरतीब नहीं दी जाती थी। इससे विद्वानों को इन इमारतों में अलंकृत होने पर भी कोई सुंदरता नहीं मालूम होती थी। इस प्रकार की सब से अच्छी मिसाल तंजोर का मंदिर है।

चालुक्य इमारतें—चालुक्य रीति की इमारतें गोदावरी की संपूर्ण घाटी में फैली हुई हैं। चालुक्य-मंदिरों में

बीच में एक बड़ा मंडप या हाल होता है और उसके गिर्द तीन तरफ़ मंदिर होते हैं। इस ढंग की इमारतों में कई चीज़ें बड़ी सुंदर होती हैं। वास्तव में उत्तम मंदिरों में से अधिकतर तक्षणशिल्प वा अलंकारों से बिलकुल ढके हुए होते थे।

इंडो-आर्यन इमारतें—उत्तरीय हिंदुस्तान अथवा उस क्षेत्र में जिसको खास हिंदुस्तान कहते हैं, अनेक प्रकार की इंडो-आर्यन इमारतें हैं। उनको दो या अधिक श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं। सब से पहली बात जो इनके विषय में उल्लेखनीय है वह यह है कि इस प्रकार के मंदिरों के शिखर गावदुम हुआ करते हैं जिसका आकार प्रायः गाजर या गोपुच्छ जैसा हुआ करता है। दूसरी बात यह है कि इनमें दक्षिण के चालुक्य-मंदिरों के समान तक्षण शिल्प की अधिकता नहीं होती। बहुधा जैन मंदिरों के समान बीच में १२ खंभे खड़े कर के उन पर अष्टभुज रूप में उतरंग रख दिए जाते हैं और उनपर गुंबद बना देने से इस के बीच में बहुत बड़ा स्थान निकल आता है। पश्चिमीय हिंदुस्तान में जो जैनियों की गृहनिर्माण की रीति है, वह इस इंडो-आर्यन रीति का ही रूपांतर है। राजपुताना, मालवा और गुजरात में सर्वत्र हिंदू और जैन, दोनों इस ही रीति की इमारतें बनाया करते थे। भुवनेश्वर में जो मंदिर बने हुए हैं, वे बिलकुल इंडो-आर्यन ढंग के सूचक हैं।

मुसलमानी इमारतें—जब बारहवीं शताब्दी के अंत में मुसलमान हिंदुस्तान में राज्याधिकारी हुए तो उन्होंने सारसेनी ढंग की इमारतें बनानी शुरू कीं। यद्यपि मसजिदें और क़बरें अधिकतर इसी ढंग की बनीं तथापि भिन्न भिन्न प्रांतों में भिन्न भिन्न राजवंशों के समय में समय समय पर इस ढंग में बहुत कुछ परिवर्तन हुआ। आरंभ में ३०० वर्ष तक तुर्क या पठान लोगों के हाथ में दिल्ली का राज्य रहा, परंतु १६ वीं शताब्दी के प्रारंभ में यह मुग़लों के हाथ में चला गया। मुग़ल राज्य का पठान कुल के गृहनिर्माण कला कौशल्य पर बहुत कुछ प्रभाव पड़ा।

मुग़ल राज्य के अतिरिक्त बहुत से स्थानीय राज्य थे जिनके ढंग अपने अपने निराले थे। तेरहवीं शताब्दी के प्रारंभ में बंगाल पृथक् राज्य हो गया था। गुलबर्गा और बीदर में बहमनी राज्य १४ वीं शताब्दी के मध्य में स्थापित हो गया था। जौनपुर गुजरात, और मालवा १४०० ई० में, बीजापुर अहमदनगर लगभग १४६० ईसवी से और गोलकुंडा २२ वर्ष बाद से स्वतंत्र राज्य हो गए थे। इस तरह १०, १२ प्रकार की सारसेनी इमारतें हो गई थीं।

मुग़ल सारसेनी रीति—मुग़लों के समय में हिंदुस्तान में सारसेनी ढंग की इमारतें बाबर के समय में आरंभ हुईं, परंतु बाबर अथवा उसके पुत्र हुमायूँ के समय का कोई

मुख्य इमारत अब नहीं पाई जाती। सब से पहले नमूने शेरशाह के समय के हैं जिनमें सब से प्रसिद्ध दिल्ली के निकट पुराने किले में क़िला कोहन अर्थात् शेरशाह की मसजिद है। वहीं पर तथा रोहतास में और भी कुछ खंडहर पाए जाते हैं। यद्यपि दिल्ली, आगरा, फतेहपुर सिकरी तथा अन्य स्थानों की पीछे की इमारतों की, जिनमें शेरशाह के समय की इमारतों से बहुत भेद हो गया, बहुत कुछ परीक्षा की गई है और उनके चित्र आदि भी प्रकाशित किए गए हैं परंतु शेरशाह के समय की प्रारंभिक इमारतों की ओर जो सारसेनी ढंग के प्राचीन नमूने हैं, किसी ने कुछ भी ध्यान नहीं दिया। वे अब तक अंध कूप में पड़ी हुई हैं। सब से पहली इमारत की भी अँग्रेज़ी राज्य में ही अधिकतर हानि हुई। जैसा फरगुसन साहब ने कहा है मुग़लवंश की समस्त इमारतों में एकता पाई जाती है और उनका इतिहास भी परिपूर्ण है। इससे भी उनके समय का हाल बड़ा मनोरंजक बन जाता है। उनके समय की कुछ इमारतों का किसी किसी अंश में संसार की किसी भी इमारत से मिलान किया जा सकता है।

अकबर—बादशाह अकबर के समय में (सन् १५५६-१६०५ ई०) मुग़ल इमारतों के रूप में बड़ी उन्नति हुई। अकबर ने बहुत सी इमारतें बनवाईं और उसके विस्तृत राज्य में इस कला ने इतनी उन्नति की कि उसके समय की अनेक इमारतों के संपूर्ण विशेष लक्षणों का बताना एक कठिन काम है। उसने

इमारतों में हिंदू तथा मुसलमान दोनों जाति के चिह्न पाए जाते हैं, परंतु ये चिह्न पूर्ण रूप से मिल नहीं गए। पठानों के समान मुग़ल लोग भी समाधियां (मकबरे) बनवाया करते थे। पहले मुग़ल बादशाहों की अपेक्षा पिछले बादशाहों ने जो मकबरे बनवाए वे अधिक सुंदर और उत्तम थे। उनमें सब से उत्तम और प्रसिद्ध जगत् विख्यात रोज़ा आगरे का ताजमहल है। यह शाहजहां की स्त्री मुमताजमहल का मकबरा है। अन्य मुसलमानी मकबरों के समान इसके भी चारों तरफ़ बाग़ हैं।

जहांगीर—अकबर के मरते ही रूपांतर हो गया। हिंदू चिह्न बिलकुल जाते रहे। जहांगीर अधिकतर लाहौर में रहने लगा। आगरे दिल्ली में उसके राज्य का कोई भी चिह्न नहीं पाया जाता। लाहौर में उसकी जामे मसजिद ईरानी ढंग की बनी हुई है जिसमें रंग बिरंग की मीना की हुई खपरैलें लगी हुई हैं। जहाँगीर की क़बर भी पास ही बनी हुई है। सिक्ख लोगों ने उससे खान का काम लिया और उसकी ईंटों से अमृतसर में अपना मंदिर बनवाया। बंगाल में जहाँगीर ने ढाके में राजमहल बनवाया था। वह अधिकतर ईंट का था। नमी के कारण अब वह बिलकुल नष्ट भ्रष्ट हो गया है। आगरे में एतमादुद्दौला का रोज़ा जहाँगीर के ही समय का है। यह बिलकुल संगमरमर का बना हुआ है और इसमें सर्वत्र पच्चीकारी का काम हो रहा है, इस कारण से यह इस प्रकार के काम का बड़ा संदर नमूना है।

शाहजहाँ—शाहजहाँ के समय में (सन् १६२८ ई०–५८ ई०) गृह-निर्माण की रीति में बड़ा भारी परिवर्तन हो गया। बारीकी और सुंदरता की ओर अधिक ध्यान दिया जाने लगा। यह बात शाहजहाँ की दिल्ली आगरे की विशाल इमारतों से प्रगट होती है। आगरे का ताजमहल एशिया में सर्वोत्तम इमारत है। ताजमहल के विषय में जो अब तक पूर्ण रूप से सुरक्षित है, कुछ कहने की आवश्यकता नहीं। उसकी सुंदरता तथा उत्कृष्टता की संसार भर के विद्वानों ने प्रशंसा की है। ताजमहल के समान आगरे की मोती मसजिद की भी बड़ी सुंदर और विशाल इमारत है। यह आगरे के क़िले में बिलकुल संगमरमर की बनी हुई है। वास्तव में यह इस प्रकार की इमारतों में मोती है। दिल्ली की जामे-मसजिद भी बड़ी विशाल है। इसकी स्थिति तथा इसका निर्माण बहुत ही सोच विचार कर किया गया है, जिससे देखने में यह बड़ी मनोहर और विशाल मालूम हो। हिंदुस्तान के बादशाहों में शाहजहाँ ने सब से अधिक सुंदर और विशाल इमारतें बनाईं।

औरंगज़ेब—औरंगज़ेब के समय में अर्थात् १६५८ ई० से इस कला की अवनति होने लगी। औरंगज़ेब को इस कार्य से कुछ भी शौक़ न था। वह अधिकतर डेरों में रहा। इसी कारण से उसने कोई भी महल नहीं बनवाया। औरंगाबाद में उसकी प्यारी बीबी का रोज़ा बना हुआ है जिसको

लोग मूर्खता से आगरे के ताजमहल के सदृश बताते हैं। यद्यपि औरंगज़ेब की बहुत उमर हुई, परंतु उसने अपने लिये कोई रोज़ा नहीं बनवाया। उसके समय की इमारतों से भी प्रगट होता है कि इस कला में अवनति हो चली थी। चौकोर पत्थर और संगमरमर के स्थान में ईंट या पलस्तर होने लगा था।

पीछे की इमारतें—सिरंगापटम तथा लखनऊ की इमारतें पीछे की हैं। यद्यपि वे सामान्य रूप से देखने में विशाल मालूम होती हैं, परंतु विशेष रूप से देखने से बड़ी भद्दी मालूम होती हैं, तथापि गृह-निर्माण कला हिंदुस्तान से नष्ट नहीं हो गई है। हाल में भी अनेक मंदिर और रौज़े बिलकुल देशीय ढंग के बने हैं जो बड़े सुंदर और सुडौल हैं और जिनमें बनावट के संपूर्ण आवश्यक गुण पाए जाते हैं, परंतु किसी किसी इमारत में ये गुण नहीं भी पाए जाते। चाहे उन पर कितना ही काम किया जाय, परंतु उससे इन गुणों की पूर्त्ति नहीं हो सकती। इसके अतिरिक्त विदेशीय रीति के अनुकरण से हिंदुस्तानी शिल्प कला में बड़ी हानि हो रही है।

६—संस्कृत साहित्य।

संस्कृत साहित्य का महत्त्व—वर्तमान हिंदुस्तान के विषय में पूर्ण रूप से ज्ञान प्राप्त करने के लिये संस्कृत साहित्य का ज्ञान अत्यावश्यक है। जिस भाषा में यह साहित्य लिखा गया है वह प्रारंभिक अवस्था में, उत्तरीय हिंदुस्तान की प्रायः समस्त देशभाषाओं की माता थी। उसी से सब भाषाएँ निकली हैं। दक्षिण की द्राविड़ भाषाओं में भी संस्कृत शब्द मिले हुए हैं। उक्त साहित्य से हिंदुओं की सभ्यता का पता लगता है। प्राचीन जातियों के साहित्य में भावविन्यास में यह बहुत ऊँचे दर्जे पर है। परंतु विकाशसिद्धांत के पाठ वा अभ्यास के लिये तो यह सब से बढ़ चढ़कर है। इसका प्रमाण यह है कि जहाँ संस्कृत भाषा के आविष्कार से शब्दशास्त्र की रचना हुई, वहाँ वेदों के ज्ञान से पुराण शास्त्र तथा धर्मशास्त्रों की उत्पत्ति हुई। संस्कृत साहित्य के दो मुख्य विभाग हैं। एक उनमें से धर्म है। इसके एक अंश से ज्ञात होता है कि केवल हिंदुस्तानी लोग ही इंडो-युरोपियन कुल में हैं जिनसे न केवल एक महान् जातीय धर्म अर्थात् ब्राह्मण धर्म की उत्पत्ति हुई, किंतु एक महान् विश्वव्यापी धर्म अर्थात् बौद्ध धर्म का प्रादुर्भाव हुआ। सिद्धांत विषय में भी हिंदुस्तानी मस्तिष्क से अनेक स्वतंत्र सिद्धांत और दर्शन निकले

हैं, जिनसे प्रगट होता है कि हिंदुस्तानी तत्त्ववक्ताओं के विचार बहुत बढ़े हुए थे। संस्कृत साहित्य की इन दो शाखाओं में जो बात हमारे अधिक लाभ की है, वह फल वा परिणाम में इतनी नहीं है जितनी इस बात में है कि वह धार्मिक और तात्विक विचारों के विकाश में प्रत्येक पद को प्रगट करती है।

हिमालय पहाड़ के बीच में आ जाने से हिंदुस्तान शेष जगत् से बिलकुल पृथक् हो गया है। इसी कारण से यहाँ का साहित्य तथा यहाँ की सभ्यता जो साहित्य से प्रगट होती है, केवल इसी बात को सिद्ध नहीं करती कि ये प्राथमिक और प्राचीन हैं, किंतु इनसे यह भी स्पष्ट होता है कि ये बराबर लगातार चले आए हैं। यह बात हिंदुस्तान में ही है, और कहीं नहीं पाई जाती। चीन को छोड़कर किसी देश में भी यहाँ का भाषा-साहित्य और संस्थाएँ तीन हजार वर्ष से अधिक निर्विघ्न नहीं चलती रहीं।

साहित्य संबंधी दो काल—[वैदिक तथा संस्कृत]—प्राचीन हिंदुस्तानी साहित्य का इतिहास दो मुख्य कालों में विभक्त है - १ वैदिक, २ संस्कृत। वैदिक काल ईसवी सन् से १५०० वर्ष पहले से २०० वर्ष पहले तक रहा। वैदिक काल के साहित्य के आदि में, धार्मिक काव्य की सिंधु नदी के मैदान में रचना हुई और अंत में ब्रह्मज्ञान संबंधी गद्य ग्रंथों का गंगा के मैदान में निर्माण हुआ। वैदिक काल में

आर्य सभ्यता तमाम हिंदुस्तान में, हिमालय से विंध्याचल तक और गंगा से सिंधु तक फैल गई। संस्कृत काल जिसमें ब्राह्मण सभ्यता तमाम दक्खिन में फैली, वैदिक काल के अंत के समीप से मुसलमानों की विजय के प्रारंभ तक अर्थात् ईसवी सन् के ३०० वर्ष पहले से १००० वर्ष बाद तक रहा। यद्यपि विषय ऐहिक ही रहे हैं परंतु प्रत्येक ज्ञान विज्ञान की इस समय उन्नति हुई। ऐतिहासिक ग्रंथों का इस काल में अभाव है। यही कारण है कि हमको संस्कृत ग्रंथकर्त्ताओं के विषय में कुछ भी मालूम नहीं है। सन् ५०० ई० से पहले कोई निश्चित समय उनके विषय में हमें ज्ञात नहीं है।

कालनिरूपण संबंधिनी सामग्री की कमी— वैदिक काल का समयक्रम बिलकुल काल्पनिक है और भीतरी साक्षी पर निर्भर है। यहाँ पर साहित्य संबंधी तीन मुख्य विषय मालूम होते हैं। दूसरे समय की हद ई० सन् से ५०० वर्ष पूर्व से पहले नहीं की जा सकती, क्योंकि इसके अंतिम सिद्धांत बौद्धमत के पूर्वरूप हैं और बुद्धदेव की मृत्यु जहाँ तक बौद्ध सभाओं की लिखित तारीखों से पता लगता है, संभवतः ई० सन् से ४८० वर्ष पहले हुई। सब से प्राचीन समय अर्थात् वह समय जब वैदिक भजनों का प्रादुर्भाव हुआ, ई० सन् से १५०० वर्ष पहले से १००० वर्ष पहले तक है।

संस्कृत काल के विषय में भीतरी प्रमाणों के सिवाय विदेशीय विद्वानों के कुछ तारीख़वार हाल भी लिखे हुए हैं। इस प्रकार की सब से पहली तारीख़ ई० सन् से ३२६ वर्ष पूर्व है जब सिकंदर ने हिंदुस्तान पर चढ़ाई की। उसके बाद यूनाननिवासी मेगास्थनीज़ आया जिसने ई० सन् से ३०० वर्ष पहले के लगभग पाटलीपुत्र के राज्य दर्बार में कुछ दिनों तक रह कर उस समय का हाल लिखा है। यद्यपि उसके लेख फुटकर हैं, परंतु वे बहुमूल्य हैं। कई सौ वर्ष के बाद चीन के कई यात्री हिंदुस्तान में आए और बहुत दिनों तक रहे। उनमें सब से अधिक प्रसिद्ध फाइहान (सन् ३९९ ई० से ४१४ ई० तक), ह्यूनसांग (सन् ६३० ई० से ४५ तक) और इटसिंग (सन् ६७१ से ९५ तक) हैं। इन तीनों के लिखे हुए हाल अब तक मौजूद हैं और सब का अँग्रेज़ी में अनुवाद हो गया है। उस समय की सामाजिक व्यवस्था, धार्मिक विचार और बौद्धधर्म की प्राचीनता के अतिरिक्त उनसे हिंदुस्तानी साहित्य के विषय में भी सामान्य और विशेष हाल मालूम होते हैं। संस्कृत काल के अंत में मुसलमानी चढ़ाई के समय के अरबी विद्वान् अलबरूनी ने सन् १०३० ई० में बड़ा ही आवश्यक और बहुमूल्य वृत्तांत लिखा है।

वैदिक भाषा—संस्कृत के प्राचीन प्राथमिक रूप में वेदों की भाषा है। वैदिक भाषा में कई एक परिवर्तनों के चिह्न स्पष्ट देख पड़ते हैं। संस्कृत काल उस समय से प्रारंभ

होता है जब कि ई० सन् से चौथी शताब्दी पूर्व में प्रसिद्ध वैयाकरण पाणिनी ने इसको नया रूप दिया।

संस्कृत भाषा—आवाज़ में तो संस्कृत और प्राचीन वैदिक, दोनों बिलकुल एक सी हैं, परंतु व्याकरण में एक दूसरे में बड़ा भेद है। कोष में भी बहुत सा परिवर्त्तन है। नवीन भाषा को संस्कृत कहते हैं, क्योंकि वह वास्तव में संस्कृत अर्थात् परिष्कृत है। इसके विपरीत प्राकृत पहले समय में जनसाधारण की भाषा थी। यह प्राचीन संस्कृत से निकली है और इससे हिंदुस्तान की वर्त्तमान देशी भाषाएँ निकली हैं।

प्राकृत—प्राचीन प्राकृत भाषा देशभाषाओं की माता होने के अतिरिक्त और भी अनेक कारणों से प्रसिद्ध है। पहले तो ईसवी सन् से तीसरी शताब्दी पूर्व से आगे के जितने प्राचीन लेख हैं वे सब प्राकृत में हैं। दूसरे हिंदुस्तान के प्राचीन नाटकों में संस्कृत के साथ साथ कहीं कहीं पर प्राकृत का भी प्रयोग किया गया है। परंतु इसकी सब से अधिक प्रसिद्धि का यह कारण है कि हिंदुस्तान के दो मुख्य धर्म, जैनधर्म और बौद्धधर्म का साहित्य प्रायः प्राकृत भाषा में ही है। ई० सन् से ६०० वर्ष पहले भी प्राकृत भाषा थी। प्राकृत में ही गौतमबुद्ध ने अपने धर्म का प्रचार किया था कि जिससे उनका उपदेश सर्व साधारण की समझ में आ सके। प्राकृत का प्राचीन रूप पाली है। इस भाषा का लंका में बड़ा

आदर और प्रचार है। संस्कृत और प्राकृत में यह भेद है कि प्राकृत में संयुक्त व्यंजन कम होते हैं और अंतिम स्वर अधिक होते हैं। जैसे संस्कृत में सूत्र और प्राकृत में सुत्त। इसी प्रकार संस्कृत में धर्म, विद्युत और प्राकृत में धम्म, विज्जू।

वैदिक साहित्य का धार्मिक गुण—आदि से अंत तक वैदिक साहित्य संपूर्णतया धार्मिक है। इसके पिछले ग्रंथ भी धार्मिक अभिप्राय से ही लिखे गए हैं। यह बात वास्तव में वैदिक शब्द से ही प्रगट है, क्योंकि वेद के अर्थ विद्या के हैं। अतएव वेद से या तो धार्मिक विद्या से तात्पर्य है या धार्मिक पुस्तक वा पूज्य ग्रंथ से।

वैदिक साहित्य में तीन समय—वैदिक साहित्य में तीन समय स्पष्टतया प्रसिद्ध हैं। पहला विधायी और काव्य विषयक है जिसमें चारों वेद प्रगट हुए। ये देवी देवताओं पर सोम वा घृत चढ़ाते समय पढ़ने के लिये बनाए गए थे। इनमें गीतों और प्रार्थनाओं का संग्रह है जिन्हें संहिता कहते हैं। ये अनेक धार्मिक क्रियाओं और संस्कारों के लिये एकत्रित किए गए थे। इनके बाद वह समय आया जब कि उपाध्याय वर्ग ने बलिदान का प्रचार किया। इस प्रकार एक नए सिद्धांत का आविष्कार हुआ जिसने ब्राह्मण नामक धर्म ग्रंथों का रूप धारण किया। इनमें भक्ति का कथन है। ये बिलकुल गद्य में हैं और आर्य जाति में इस

प्रकार की रचना के सब से प्राचीन नमूने हैं। ये भी धीरे धीरे पूज्य समझे जाने लगे और श्रुति के नाम से प्रसिद्ध हो गए, अर्थात् प्राचीन ऋषियों को ये ईश्वर द्वारा प्रगट हुए। इनके बाद जो धार्मिक या लौकिक ग्रंथ बने, वे इतने पूज्य नहीं समझे गए। उनका नाम स्मृति रक्खा गया। अर्थात् उनमें केवल उतना भाव है जितना स्मरण शक्ति द्वारा प्राचीन ऋषियों के वाक्यों में से मौखिक परंपरा से याद रहा। इनमें वैदिक रीतियों और रिवाजों को बहुत ही संक्षेप में गद्य में वर्णन किया गया है। इनका मुख्य अभिप्राय यह है कि श्रुति तथा अन्य कथाओं के लंबे चौड़े विषय का थोड़े में पाठकों को बोध हो जाय।

वेदों के पीछे का साहित्य—पिछला साहित्य पहले वैदिक साहित्य से गुण, रूप, विषय तीनों में भिन्न है। वैदिक साहित्य धार्मिक है; संस्कृत साहित्य लौकिक है। जो धर्म आज कल प्रचलित है, उसमें बहुत कुछ परिवर्त्तन हो गया है। जिन देवों को वेदों में मुख्य माना है वे अब बिलकुल गौण हो गए हैं। आज कल ब्रह्मा, विष्णु और शिव ये तीन ही मुख्य समझे जाते हैं। नाग देवता तथा अनेक प्रकार के भूत पिशाचादि के सिवाय कुबेर, गणेश, कार्त्तिकेय, श्री, लक्ष्मी, दुर्गा, पार्वती आदि नवीन देवी देवताओं की भी आज कल पूजा उपासना की जाती है। वेदों से एक प्रकार का प्रफुल्लित जीवन प्रगट होता है, परंतु संस्कृत साहित्य में आवागमन

का सिद्धांत सर्वमान्य होने के कारण कुछ कुछ निराशा और अप्रसन्नता दीख पड़ती है, साथ ही नीति और सच्चरित्रता की व्याप्ति देख पड़ती है। संस्कृत काव्य में एक विलक्षण अद्भुतता का भाव पाया जाता है जिसके साथ अत्योक्ति तथा विस्तार का भी बाहुल्य है।

वीरचरित्र विषयक काव्य की उत्पत्ति—संस्कृत साहित्य वैदिक साहित्य से नहीं बना। इस बात का काफ़ी प्रमाण मौजूद है कि सूत्रकाल में (अर्थात् ई० सन् से ५०० वर्ष पहले से २०० वर्ष पहले के बीच में) जब बौद्धमत के विपुल पाली साहित्य तथा जैन मत के प्राकृत साहित्य ने उन्नति की, उस समय संस्कृत तथा व्यवहारिक काव्य ने भी कथाओं के रूप में जन्म लिया। यह काव्य दो प्रकार का है। एक इतिहास, आख्यान या पुराण, दूसरा काव्य। महाभारत पहली तरह का है और रामायण दूसरी तरह का। दोनों पद्य में हैं। महाभारत में गद्य कथाओं के अतिरिक्त कुछ दूसरे छंदों में पुराने पद्य भी हैं। परंतु रामायण एक ही कवि की कृति है और सर्व प्रकार से एकसी ही है।

महाभारत—महाभारत में छोटे छोटे अनेक भाग हैं, उनमें केवल इतना ही संबंध है कि वे सब एक ही समय के सूचक हैं जिसका उनमें वर्णन है। महाभारत में इतना उपदेश भरा हुआ है कि वह एक नीति का भांडार या

विद्याचक्र मालूम होता है। इसमें एक लाख श्लोक हैं और १८ पर्व हैं। १६ वाँ पर्व हरिवंश ऊपर से मिला दिया गया है। कौरवों के राजा दुर्योधन और पांडवों के राजा युधिष्ठिर के युद्ध का नाम महाभारत है। यह युद्ध १८ दिन तक रहा। कौरव पांडव चचेरे भाई थे और शकुंतला के पुत्र भरत की संतान में से थे। इस ग्रंथ में और बहुत सी कल्पित कथाएँ, दंतोक्तियाँ हैं, तथा कर्त्तव्य पर विशद रूप से विवेचना की गई है। भगवद्गीता आदि संपूर्ण पुस्तकों का भी कहीं कहीं पर उदाहरण स्वरूप में इसमें समावेश किया गया है।

रामायण—वर्तमान रामायण में लगभग २४०० श्लोक और ७ कांड हैं, परंतु यह बात सिद्ध हो चुकी है कि प्रारंभ में केवल पाँच कांड थे। पहला और सातवाँ नहीं था। इन ५ में भी कुछ सर्ग बाहर के मिलाए हुए हैं। इस काव्य की भीतरी साक्षी से पता लगता है कि इसकी रचना इक्ष्वाकु वंशी राजाओं की राजधानी अयोध्यापुरी में हुई। इस बात के मानने के लिये काफ़ी सबूत मौजूद हैं कि रामयण का असली भाग महाभारत के अविरुद्ध रूप धारण करने से पहले पूर्ण हो चुका था। रामायण से जो उस समय की राजनैतिक व्यवस्था मालूम होती है उससे तथा और अनेक प्रमाणों से यह बात सिद्ध होती है कि रामायण बौद्धकाल से प्राचीन है। समस्त साक्षियों का सार यह है कि रामायण का असली भाग ई० सन् से ५०० वर्ष पहले बनाया गया था और शेष

भाग ई० सन् से दूसरी सदी में या उससे भी पीछे बनाया गया।

रामायण की सर्वप्रियता—वाल्मीकि प्रणीत रामायण में पहले और पिछले कांड के शामिल कर देने से यह विष्णु प्रशंसा का एक काव्य हो गया है। राम को विष्णु का अवतार माना गया है। इससे काव्यनायक राम सदैव के लिये हिंदुस्तान के पूज्य आराध्य देव हो गए हैं। आज तक कोई भी संस्कृत ग्रंथ इस देश में रामायण से अधिक लोकप्रिय नहीं हुआ है। इसका अनेक देशभाषाओं में उल्था हो चुका है। इसका सर्वोत्तम छायानुवाद महाकवि तुलसीदास कृत है। जिस आदर्श, रीति या धर्म को तुलसीदास जी ने दिखलाया है उसके कारण उनका ग्रंथ हिंदुस्तान के क़रीब क़रीब १० करोड़ मनुष्यों का पूज्य ग्रंथ हो गया है।

नाटक—संस्कृत नाटक में गीतिमय और गद्य संभाषण, दोनों मिले हुए हैं। नाटक की उत्पत्ति आदि के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं है। हाँ भाषा की परोक्ष साक्षी से इसके उत्पत्ति स्थान का तो अवश्य कुछ पता लगता है। नट या नाटक शब्द, प्राकृत नट वा संस्कृत नृत्य से निकले हैं। जहाँ तक अनुमान किया जाता है शुरू में केवल मुग्ध नृत्य होता था। गायन भी शुरू में होता था। फिर प्रश्नोत्तर होते थे। गीतगोविंद इस प्रकार का पहला नमूना है। बंगाल में भी इस प्रकार का यात्रा नाम का नाटक अभी तक प्रचलित

है। सब से अंत में संगीत और प्रश्नोत्तर दोनों मिले होते थे। सिर्फ़ १०-१२ हिंदुस्तानी नाटक अच्छे हैं। उनको कालिदास, भवभूति आदि प्रसिद्ध नाटककारों ने सन् ४०० और ८०० ई० के बीच में लिखा है। कुछ को असली लेखकों ने शूद्रक तथा श्रीहर्ष आदि राजाओं के नाम से लिखा है। सब से प्रसिद्ध कवि कालिदास जी हुए हैं। वे हर प्रकार का काव्य करते थे। शकुंतला, विक्रमोर्वशी, मालविकाग्निमित्र, उनके तीन मुख्य नाटक हैं।

किस्से कहानियां—यद्यपि प्रत्येक संस्कृत ग्रंथ में नीति पाई जाती है, परंतु कथा कहानियों की पुस्तकों में वह अधिकतर देखने में आती है। उनमें शिक्षा, नीति और सिद्धांत के श्लोक बीच बीच में दिए हुए हैं। इनमें एक विशेष बात यह है कि एक ही कथा में अनेक कथाएँ दी हुई होती हैं। ईरान और अरब के लोगों ने यह रीति हिंदुस्तान से ही सीखी है। इस प्रकार की सब से उम्दा मिसाल अलि-फ़लैला नाम की पुस्तक है।

पंचतंत्र—इस पुस्तक में ५ खंड हैं। इसी कारण से इसका नाम पंचतंत्र है। यह बड़ी मनोरंजक और उत्तम पुस्तक है। इसमें केवल गद्य में कथाएँ हैं। बीच बीच में नीति के श्लोक भी दिए हुए हैं। यह निश्चय रूप से नहीं कहा जा सकता कि इस ग्रंथ की कब रचना हुई। इसमें अद्भुत रसिकता पाई जाती है। इसमें मनुष्यों के संपूर्ण काम

पशुओं द्वारा किए जाते हैं। पशु वेद पढ़ते हैं, धार्मिक क्रियाओं का पालन करते हैं, देवी देवताओं ऋषि मुनियों आदि के विषय में वाद विवाद करते हैं और नीति आदि विषय पर विवेचना करते हैं। एकदम उनके स्वाभाविक गुण खुल जाते हैं। ब्राह्मणों का लोभ या कपट, दरबारियों की चाल और स्त्रियों का विश्वासघात आदि अनेक मानुषी दुर्गुण बड़े ही व्यंग्य और कटाक्ष से प्रगट किए जाते हैं। ऐसे ग्रंथों में एक प्रकार का स्वाभाविक जीवन पाया जाता है और अन्य ग्रंथों के समान अत्युक्ति नहीं होती। साहित्य में पंचतंत्र का प्रभाव पड़ा है।

हितोपदेश—हितोपदेश भी इसी प्रकार का ग्रंथ हैं। हिंदुस्तान में इसका बड़ा ही आदर है। प्रत्येक संस्कृत विद्यार्थी प्रारंभ में इसको पढ़ता है। यह विशेष कर पंचतंत्र के आधार पर बना है जिसमें उसकी ४३ कथाओं में से २५ कथाएँ हैं। ज्ञान गुण इसमें पचतंत्र से अधिक है। श्लोक भी इतने बढ़ा दिए गए हैं कि गद्य का महत्त्व कम हो गया है। परंतु वे सब नीति या शिक्षा से भरपूर हैं। हितोपदेश के कर्त्ता का नाम निश्चित नहीं है। उसके समय के विषय में भी इससे अधिक कुछ निश्चय रूप से नहीं कहा जा सकता कि यह ग्रंथ ५०० वर्ष पहले का है।

गणित—गणित में हिंदुस्तानियों ने बड़ी सफलता प्राप्त की है। उन्होंने संख्या तथा दशमलव का आविष्कार

किया है। इससे हम कह सकते हैं कि वे बड़े गणितज्ञ थे। हिंदुस्तानियों का सब से प्राचीन गणित ग्रंथ जो इस समय उपलब्ध है, वेदों के शुल्वसूत्र हैं जो बिलकुल व्यवहारिक हैं। इन सूत्रों से ज्यामिति का बहुत कुछ ज्ञान हो सकता है। उनमें पीथागोरस का यह सिद्धांत दिया हुआ है कि त्रिकोण के कर्ण का वर्ग अन्य दो भुजाओं के वर्ग के बराबर होता है। बाद के गणितज्ञों ने त्रिकोणमिति में विशेष कर ज्याश्रेणी का आविष्कार करके बड़ी उन्नति की है।

अंकगणित तथा बीजगणित—हिंदुस्तानी गणितकारों की बड़ाई जो पाँचवीं शताब्दी तथा बाद में हुई, इस कारण से है कि उन्होंने अंकगणित तथा बीजगणित संबंधी अनेक खोज की हैं। वे गणितज्ञ ही नहीं थे किंतु नजूमी भी थे, इस कारण उनके अंकगणित तथा बीजगणित संबंधी लेख ज्योतिष शास्त्र में सहकारी अध्यायों के तौर पर हैं। संख्याओं की क़ीमत को कितना ही बढ़ा देना, तथा वर्गमूल या त्रिवर्गमूल निकालना उनके लिये साधारण प्रारंभिक बातें थीं। वे गणतिक श्रेणी का हिसाब जानते थे। शायद उन्होंने यह बात शतरंज के खानों से निकाली हो। उन्होंने बीजगणित में यूनानियों से भी अधिक उन्नति कर ली है। युरोप के लोगों को यह बात असाधारण मालूम होगी कि उस समय के ज्योतिषियों ने गणित संबंधी अध्यायों को भी अन्य ग्रंथों के समान पद्य में ही बनाया था।

ज्योतिष—जहाँ तक मालूम होता है हिंदुस्तानियों ने ज्योतिष में उस समय तक विशेष उन्नति नहीं की थी जब तक उन्हें यूनानियों के सिद्धांत मालूम नहीं हुए थे। हाँ उसके बाद उन्होंने बहुत से ग्रंथ लिखे। हिंदुस्तानी ज्योतिष सिद्धांत के प्रारंभ में केवल ४ ग्रंथ थे जो सन् ३०० ई० में लिखे गए थे। वे सिद्धांत के नाम से प्रसिद्ध थे। उनमें से अब केवल एक रह गया है जिसका नाम सूर्यसिद्धांत है। इन प्रारंभिक ग्रंथों के सिद्धांतों को हिंदुस्तानी ज्योतिष शास्त्र के मूल संस्थापक आर्यभट्ट ने जो पाटलीपुत्र में ४७६ ई० में पैदा हुआ था, संक्षेप रूप में लिखा है। उन्होंने आर्यभट्टीय नाम का ग्रंथ बनाया है। उसके तीसरे भाग में केवल गणित संबंधी प्रश्न हैं। उनका नाम इस कारण से चिरस्मरणीय रहेगा कि उन्होंने सिद्ध किया है कि पृथिवी अपनी अक्ष के चारों ओर भ्रमण करती है। उन्होंने सूर्यग्रहण तथा चंद्रग्रहण के कारणों को भी बतलाया है। उनके बाद दूसरा महान् ज्योतिषी वराहमिहर हुआ जो उज्जैन का रहनेवाला था। वह ५८७ ई० में मर गया। उसने ४ ग्रंथ इस विषय के लिखे। तीसरा ज्योतिषी ब्रह्मगुप्त ५९८ ई० में हुआ। उसने ३० वर्ष की उमर में ब्रह्मस्फुट सिद्धांत लिखा है। सब से अंत में प्रसिद्ध ज्योतिषी भास्कराचार्य सन् ११७४ ई० में हुए। उन्होंने सिद्धांतशिरोमणि नाम का ग्रंथ लिखा है। सूर्यसिद्धांत

को छोड़ कर और किसी ज्योतिष ग्रंथ का हिंदुस्तान में मान नहीं है।

७--उत्तरीय हिंदुस्तान का प्रारंभिक इतिहास।

[ईसवी सन् से ६०० वर्ष पहले से ६५० वर्ष पीछे तक।]

काल-निर्णय में कठिनाइयां—हिंदुस्तानी ग्रंथकारों ने किसी घटना का ठीक ठीक समय निश्चय करने तथा कल्पनाओं का सत्य घटनाओं से भेद करने में बड़ी उदासीनता और असावधानी दिखलाई है। इसी कारण से वर्त्तमान काल में इतिहासकारों को बड़ी कठिनाई होती है। गत १०० वर्षों से युरोप के विद्वान् हिंदुस्तान के इतिहास में समय निश्चय करने की खोज में लगे हुए हैं और उस खोज के आधार पर ऐतिहासिक घटनाओं को लिख रहे हैं। यदि हिंदुस्तान और अन्य देशों की घटनाओं में, जिनका इतिहास मालूम है, किसी किसी बात में समानता न होती, तो इस काम का होना कभी संभव न था और हिंदुस्तान का इतिहास अब तक ज्यों का त्यों अप्राप्य बना रहता। परंतु गत २० या ३० वर्षों में मुख्य मुख्य घटनाओं के समय का निर्णय हो गया है। इसी कारण अब ईसवी सन् के ६०० वर्ष पहले से ६०० वर्ष पीछे तक की मुख्य मुख्य घटनाओं का इतिहास क्रमानुसार उपलब्ध है।

प्राचीन पौराणिक कथाएँ—सब से प्राचीन वे ऐतिहा-

सिक कथाएँ मालूम होती हैं जो जैन और बौद्ध शास्त्रों में पाई जाती हैं जिनमें से कुछ ईसवी सन् से पाँचवी शताब्दी पूर्व के बने हैं। यद्यपि ब्राह्मणों के पुराणों में बहुत सी प्राचीन बातों का उल्लेख है, परंतु वे अपने वर्त्तमान रूप में बहुत पीछे लाए गए। वायु पुराण सब से प्राचीन है जो शायद चौथी शताब्दी में लिखा गया है। अन्य पुराण इसके और ७०० ईसवी के बीच में बने हैं। एलबरूनी के समय में जिसने सन् १०३१ ई० में हिंदुस्तान का इतिहास लिखा है, सब के सब पुराण बहुत प्राचीन काल के समझे जाते थे। वायु पुराण ६०० ई० से पूर्व में भी बड़ा पूज्य ग्रंथ समझा जाता था।

ईसवीं सन् से छठी-सातवीं शताब्दी पूर्व में हिंदुस्तान की दशा—प्राचीन परंपरागत कथाओं से हिंदुस्तान की ईसवीं सन् से छठी-सातवीं शताब्दी पूर्व की दशा की झलक देख पड़ती है। जिस भाग में आर्य लोग रहते थे, वह उस समय में भी सभ्य था। छोटी छोटी रियासतों और जातीय राज्यों के अतिरिक्त उत्तरीय हिंदुस्तान में १६ बड़ी बड़ी रियासतें थीं। अनेक सुंदर शहर और क़सबे थे जिन में जीवन की सब ज़रूरी और आराम की चीज़ें मिलती थीं। बनारस भरोंच आदि स्थान जिनका अनेक प्राचीन कथाओं में उल्लेख हैं, आज तक प्रसिद्ध हैं। अनेक नगर जो प्राचीन काल में प्रसिद्ध थे, अब खंडहर पड़े हैं और किसी

किसी का तो नाम निशान भी मिट गया है। उदाहरण के लिये तक्षशिला को लीजिए जो सिकंदर के समय में एशिया में सब से बड़े शहरों में समझी जाती थी और उससे २०० वर्ष पहले राजधानी तथा विद्या का केंद्र थी, जहाँ सर्व जातियों के छात्र प्रत्येक विषय में, जो उस समय उपलब्ध था, शिक्षा पाने के लिये सैकड़ों की संख्या में जाते थे। अब वहां केवल कुछ टूटे फूटे मिट्टी के टीले रह गए हैं जो रावलपिंडी के निकटवर्ती ग्रामों में इधर उधर फैले हुए हैं। प्रसिद्ध नगर श्रावस्ती जहाँ बुद्धदेव ने वर्षों धर्म्मोपदेश दिया, अब नेपाल की सरहद पर कहीं दबा पड़ा है।

ईसवी सन् से ५०० वर्ष पूर्व—फ़ारिस का हिंदुस्तानी राज्य—हेरोडोटस सब से पहला विदेशीय लेखक है जिसने ईसवी सन् से पाँचवीं शताब्दी पूर्व के अंत में हिंदुस्तान के विषय में कुछ लिखा है। वह स्वयं हिंदुस्तान में नहीं आया। उसने निस्संदेह ईरानियों से पढ़कर या सुनकर वह हाल लिखा है। हिस्टास्पस के पुत्र दारा (ई० सन् के ५२१ वर्ष पहले से ४८५ वर्ष पहले तक) ने ईरान में अपना राज्य स्थिर कर के हिंदुस्तान के जीतने का विचार किया, तदनुसार उसने सिंधु नदी के पश्चिमीय प्रांतों तथा पंजाब के कुछ भाग को ले लिया। सिकंदर की चढ़ाई के समय सिंधु नदी ईरान राज्य और स्वाधीन हिंदुस्तान के बीच की हद थी। हिंदुस्तान में जिन जिन हिस्सों को उसने जीता उनका उसने

बीसवाँ सूबा बनाया। यही उसके राज्य में सब से अधिक धनवान् और आबाद सूबा था। इससे उसे एक करोड़ की आमदनी थी।

हिंदुस्तान में सिकंदर—सिकंदर हिंदुस्तान में मुशकिल से १९ महीने के लगभग रहा। ईसवी सन् से ३२६ वर्ष पहले मार्च के महीने में वह सिंधु नदी को पार करके हिंदुस्तान में आया और अगले साल सितंबर के महीने में यहाँ से लौट गया। सिकंदर को इस चढ़ाई में आदि से अंत तक प्रत्येक बार सफलता प्राप्त हुई। एक बार भी उसे कभी नीचा नहीं देखना पड़ा। पहाड़ी देश को जीतने में, व्यास नदी को पार करने में, झेलम पर वापिस लौट आने आदि समस्त घटनाओं के अवसर पर सिकंदर ने अपने युद्ध-चातुर्य और सैन्य-प्रबंध से विजय प्राप्त की, परंतु सिकंदर जैसे प्रसिद्ध प्रधान सेनापति की अलौकिक शक्तियों के विकाश से जो घोर कष्ट और दुःख लोगों को हुआ उसके बदले में संसार ने कुछ भी लाभ नहीं उठाया। लूट का माल भी, जिसके लिये उसके सिपाहियों ने इतने कष्ट उठाए गेड्रोशिया के जंगलों में जाता रहा। यदि सिकंदर जीवित रहता तो उसके दूरदर्शी विचारों का यह परिणाम अवश्य होता कि कम से कम सिंधु की घाटी तो यूनानी भाषा बोलने लगती और भारतीय इतिहास का मार्ग भी बदल जाता,

परंतु उसकी अकाल मृत्यु के कारण हिंदुस्तान में उसकी विजय से ऐसा कोई भी लाभ न हुआ जैसा अन्य एशियाई देशों में हुआ। हिंदुस्तान में प्राचीन राज्य-व्यवस्था इतनी ज़बर्दस्त थी कि सिकंदर की चढ़ाई से जो ऐसी आँधी के समान थी कि इधर से आई उधर निकल गई, उस पर कुछ भी प्रभाव न पड़ा। सिकंदर के मरने के पीछे दो वर्ष में ही उसके उत्तराधिकारियों को हिंदुस्तानी प्रदेशों को उनके ही भाग्य पर छोड़ देना पड़ा। जब बबुलुनिया में काल ने सिकंदर को घेर लिया तो उसके सरदारों को इतना अवकाश न था कि वे इतनी दूर के हिंदुस्तानी देशों का विचार करते। थोड़े ही दिनों में हिंदुस्तानियों ने अपनी शक्ति को बढ़ा लिया और यूनानी राज्य के समस्त चिह्नों और लक्षणों को मिटा दिया।

चंद्रगुप्त मौर्य—इस आंदोलन का नेता चंद्रगुप्त नाम का एक हिंदू युवक था। यह मगध राज्य के अनाधिकारी वर्ग में से था। किसी कारण से वहाँ का राजा इससे रुष्ट हो गया अतः इसको देश छोड़ना और वहाँ से भागना पड़ा। कहते हैं कि वह भाग कर पंजाब में पहुँचा और वहाँ सिकंदर से मिला। सिकंदर के मरने के बाद चंद्रगुप्त ने अवसर पाकर सरहदी डाकू लोगों की एक फ़ौज इकट्ठा की और मगध पर चढ़ाई की। लड़ाई में चंद्रगुप्त की जीत हुई। सिकंदर के मरने के एक या दो वर्ष बाद अर्थात् ई० सन् से ३२२ या ३२१

वर्ष पहले चंद्रगुप्त मगध का राजा बन गया। चंद्रगुप्त का शासन बड़ा ही कड़ा और कठोर था। कर चुकाने में टाल मटोल करना, उसके राज्य में एक महान् अपराध समझा जाता था। ऐसे ही यदि कोई शिकार खेलने की सरकारी ज़मीन में बिना आज्ञा के चला जाता तो उसको फाँसी का दंड मिलता था। यह जान कर कुछ आश्चर्य नहीं होता कि चंद्रगुप्त को जिसके नियम ऐसे कड़े और कठोर थे, सदा अपनी जान की चिंता रहती थी। वह डरता रहता था कि कहीं कोई उसको मार न डाले। इसी कारण वह प्रत्येक रात्रि को अपना शयनागार बदला करता था। उसका राज्य अरब के समुद्र से बंगाल की खाड़ी तक और सिंधु नदी के पार हिंदूकुश पहाड़ तक फैला हुआ था। उसकी राजधानी पाटलीपुत्र थी जिसको आज कल पटना (बाँकीपुर) कहते हैं। इतने बड़े देश का चंद्रगुप्त ने ऐसा दृढ़ प्रबंध कर रक्खा था कि बिना किसी कठिनाई या आपत्ति के उसके बाद उसका राज्य उसके पुत्र पौत्र को मिला। जिस मनुष्य ने इतने बड़े देश को जीत कर अपने अधिकार में किया और जी खोल कर राज्य किया वह अवश्य कोई असाधारण शक्ति का मनुष्य होगा।

अशोक—जब चंद्रगुप्त २४ वर्ष यह निःशंक राज्य करके ई० सन् से २९७ वर्ष पूर्व में मर गया तो उसका पुत्र बिंदुसार राज्यसिंहासन पर बैठा और उसने २५ वर्ष तक

राज्य किया। बिंदुसार के पीछे ई० सन् से २७२ वर्ष पहले उसका पुत्र अशोकवर्धन राज्य का अधिकारी हुआ। जो बौद्धमत पहले गंगा की घाटी में एक छोटा सा मत था, वह अशोक के उद्योग से संसार के महान् धर्मों में समझा जाने लगा, इतना ही नहीं, किंतु संख्यापेक्षा संसार में सब से महान् धर्म हो गया। इस कारण अशोक का नाम चिरस्थायी हो गया और उसका समय न केवल भारतवर्ष के किंतु समस्त संसार के इतिहास में चिरस्मरणीय हो गया। उसके मरने के अनंतर ई० सन् से २३२ वा २३१ वर्ष पहले मौर्य वंश, जिसकी तीन पीढ़ियों ने ९० वर्ष तक राज्य किया, खंड खंड हो गया।

गुप्त वंश—सन् ३२० ई० में गुप्त वंश की उत्पत्ति से इतिहास में एक नया युग उत्पन्न हो गया। कुशन राज्य के अधःपतन के समय उत्तरीय विहार की लिच्छवी जाति ने जिसे प्राचीन काल में मगधाधिपति अजातशत्रु ने जीत लिया था, मालूम होता है कि अपनी शक्ति गंगा के पार दक्षिण में बढ़ा ली थी और पाटलीपुत्र को ले लिया था। एक स्थानीय हिंदू सरदार ने जिसका नाम चंद्रगुप्त था, लिच्छवी कुल की एक राजकन्या से विवाह करके पाटलीपुत्र का राज्य ले लिया और निकटवर्त्ती राज्यों को भी अपने अधिकार में कर लिया। उसको अपने उद्देश्यों में यहाँ तक सफलता हुई कि उसने ३२० ई० में अपने नाम का संवत् चलाया जो कई

सौ वर्षों तक जारी रहा। उसका राज्य उत्तरीय तथा दक्षिण विहार, अवध और गंगा की घाटी में प्रयाग तक फैला हुआ था।

समुद्रगुप्त—चंद्रगुप्त ने थोड़े ही दिन राज्य किया। उसके पीछे उसका पुत्र समुद्रगुप्त राज्याधिकारी हुआ। समुद्रगुप्त सर्वगुण संपन्न और साहसी राजा था। उसके समान बहुत ही कम राजा भारत में हुए हैं। थोड़े ही दिनों के बाद सन् ३३० ई० में उसने संपूर्ण हिंदुस्तान को जीतने का विचार किया। अपनी असाधारण शक्ति और अपने अपूर्व बल के कारण वह विंध्याचल के पहाड़ी जंगलों को चीरता हुआ दक्षिण में पहुँचा। वहाँ के राजाओं को अधीन बनाकर वहाँ से वह अतुल लक्ष्मी अपने साथ लाया।

चंद्रगुप्त द्वितीय—सन् ३७५ ई० में समुद्रगुप्त का पुत्र चंद्रगुप्त, जिसको उसने ख़ास तौर से राज्यकार्य के लिये चुना था, राज्य-सिंहासन पर बैठा और उसने अपने आपको विक्रमादित्य के नाम से प्रसिद्ध किया। चंद्रगुप्त ने अपनी असाधारण योग्यता से अपने वंश के गौरव की पूर्ण रक्षा की और यह अच्छी तरह प्रगट कर दिया कि समुद्रगुप्त ने चंद्रगुप्त को राज्याधिकारी बनाने में बड़ी ही योग्यता और दूरदर्शिता से काम लिया है। उसके समय में चीन का एक बौद्ध यात्री आया था जिसका नाम फाहियान था। फ़ाहियान ने ६ वर्ष तक अर्थात् सन् ४०६ ई० से ११ तक उसके राज्य

में यात्रा की और राज्य, धर्म संबंधी समस्त बातें अच्छी तरह से नोट कीं। उसके ही लेखों से राज्यव्यवस्था तथा प्रजा की अवस्था आदि का उस समय का पूरा पूरा इतिहास मालूम होता है। उसने लिखा है कि चंद्रगुप्त बड़ा दयालु और उपकारी था। उसके शासन में किसी प्रकार का पक्षपात न था। कर बहुत हल के थे। पुलिस के नियम भी कड़े न थे। आने जाने में किसी प्रकार की रोक टोक न थी। राज्य की आमदनी ज़मीन के कर से थी जो पैदावार के अनुसार ली जाती थी। अपराधों के लिये दंड हलके दिए जाते थे। साधारण तौर से जुर्माना किया जाता था परंतु जो मनुष्य दुबारा डाका वग़ैरह मारने का अपराधी होता था उसका हाथ काट लिया जाता था। न फाँसी दी जाती थी और न किसी प्रकार की शारीरिक वेदना पहुँचाई जाती थी। राज्य के कर्मचारियों को नियत वेतन मिलता था। कोई प्रतिष्ठित व्यक्ति शिकार नहीं खेलता था और न मांस बेचता था। ये कर्म नीच जाति के मनुष्य अर्थात् चांडाल करते थे। उच्च जाति के मनुष्य मांस, मदिरा, लहसुन, प्याज वग़ैरह पदार्थों का सेवन नहीं करते थे। इसी कारण शहरों में बूचड़खाने और शराब की भट्टियाँ कहीं देखने में न आती थीं। फ़ाहियान का कथन है कि उस समय में कौड़ियाँ चलती थीं। इन्हीं से सौदा ख़रीदा जाता था, परंतु उस समय के तरह तरह के सोने चाँदी और ताँबे के सिक्कों से पता चलता

है कि धातु के सिक्कों का भी उस समय में बहुत ज़्यादा रिवाज़ था।

चंद्रगुप्त एक ऐसा प्रभावशाली शासक था कि बिना किसी रोक टोक के फाहियान ने सर्वत्र भ्रमण किया और शांतिमय मंदिरों में वर्षों तक निर्विघ्नता से अध्ययन किया। प्रजा के दान दिए हुए रुपए की तथा धार्मिक द्रव्य की राजा पूरी पूरी रक्षा करता था। विद्योन्नति की ओर राज्य का बड़ा लक्ष्य था। इस बात का विश्वास होता है कि संस्कृत साहित्य का स्वर्णमय काल जिसको प्रायः लोग भूल से उज्जैन के कल्पित राजा विक्रमादित्य का समय अर्थात् ई० सन् से ५७ वर्ष पहले बताते हैं, वास्तव में समुद्रगुप्त और उसके पुत्र चंद्रगुप्त द्वितीय का समय है। संस्कृत काव्य और नाटक का प्रसिद्ध कर्त्ता कालिदास चंद्रगुप्त द्वितीय के समय में हुआ है जिसने सन् ३९० ई० के लगभग उज्जैन को जीता था।

गुप्त राज्य का अस्त—सन् ४१३ या ४१४ ई० में कुमारगुप्त जो महेंद्र के नाम से प्रसिद्ध था, चंद्रगुप्त की गद्दी पर बैठा और सन् ४५५ ई० तक उसने राज्य किया। उसके राज्य की घटनाएँ विशद रूप से मालूम नहीं हैं, परंतु यह बात स्पष्ट है कि उसने अंत समय तक अपने बाप दादा के राज्य को सुरक्षित रक्खा। यद्यपि उसके राजत्व के अंतिम भाग में हूण लोगों की चढ़ाइयों से बहुत कुछ कष्ट और हानि हुई, परंतु उसने अपने राज्य में किसी प्रकार भी

कमी नहीं होने दी। उसके बाद उसका बेटा स्कंदगुप्त राजा हुआ। स्कंदगुप्त के राजत्व का अंतिम भाग भी जो सन् ४८० ई० में समाप्त हुआ, दुःख का समय था। स्कंदगुप्त के मरते ही गुप्त राज्य का अंत हो गया।

छठी शताब्दी में अशांति—तीसरी शताब्दी के समान छठी शताब्दी भी अशांति का समय था। विदेशीय आक्रमण के भय से प्राचीन राज्यविधि तथा ऐतिहासिक एकता नष्ट हो गई थी। उस समय का शृंखलाबद्ध इतिहास अब अप्राप्य है। केवल उस समय के सिक्कों और शिलालेखों से दो चार छोटी छोटी रियासतों का पता लगता है।

महाराजाधिराज हर्ष—महाराज हर्ष वा हर्षवर्द्धन के, जिनको शिलादित्य भी कहते हैं, राज्यसिंहासन पर बैठने के समय से हिंदुस्तान के इतिहास में पुनः कुछ कुछ एकता आ जाती है। महाराज हर्ष अंबाला के निकटवर्ती हिंदू तीर्थस्थान थानेश्वर के राजा के छोटे लड़के थे। जब सन् ६०४ ई० में उनका देहांत हो गया तो उनका बड़ा बेटा गद्दी पर बैठा, परंतु पूर्वीय बंगाल के राजा सशांक ने उसको धोखे से अपने पास बुलाकर मार डाला। तब सन् ६०६ ई० में छोटे लड़के हर्ष को राज्य मिला। हर्ष ने पहले अपने भाई के मारनेवाले से बदला लिया, फिर हिंदुस्तान को जीता। वह लगभग ६ वर्ष तक बराबर लगातार लड़ता रहा। एक दिन

भी उसने आराम नहीं किया। अनेक लड़ाइयाँ जीत कर हर्ष उत्तरीय भारत का सर्वमान्य राजा हो गया और अपने नाम का उसने संवत् चलाया जिसका पहला वर्ष सन् ६०६ ई० से प्रारंभ हुआ।

ह्यूनसांग—सन् ६४३ ई० में महाराज हर्ष ने चीन के विद्वान् यात्री ह्यूनसांग को अपनी राज्यसभा में निमंत्रित किया और उसका बड़ा आदर सत्कार किया। सन् ६२८ ई० में ह्यूनसांग अपने देश से चला और रास्ते की अनेक आपत्तियों को सहकर झील इज्जुक्कल, बलख, बामियान और काबुल के रास्ते से हिंदुस्तान में पहुँचा। हिंदुस्तान में उसने अपना समय संस्कृत भाषा के सीखने और बौद्ध तीर्थ स्थानों की यात्रा करने में बिताया। इस यात्रा में उसने हस्तलिखित ग्रंथों तथा धर्म मूर्त्तियों का एक अच्छा संग्रह कर लिया। वह अपने देश को लौटने की तैयारी कर रहा था कि इतने में महाराज हर्ष का निमंत्रण उसे मिला। इससे कुछ दिन उसे और ठहरना पड़ा। अंत में खुतन के रास्ते से वह अपने घर लौट गया और वहाँ पहुँच कर उसने अपने निष्कलंक जीवन के शेष भाग को हिंदुस्तान से लाए हुए ग्रंथों के अनुवाद करने में लगाया।

सातवीं शताब्दी में हिंदुस्तान की अवस्था—ह्यूनसांग ने जो कुछ लिखा है उससे सातवीं शताब्दी में हिंदुस्तान की क्या अवस्था थी, इसका पता लगता है।

उस समय की न्यायप्रणाली आज कल के लोगों को भले ही दोषयुक्त मालूम हो, परंतु ह्यूनसांग को वह पसंद आई थी। उसका कथन है कि उस समय दोषी और अपराधी बहुत कम थे और उनसे कष्ट भी बहुत कम पहुँचता था। उस समय का साधारण दंड क़ैद था। यह क़ैद वैसीही थी जैसी आज कल तिब्बत में दी जाती है अर्थात् क़ैदियों को योंही छोड़ दिया जाता था, चाहे वे मरे चाहें जिएँ। न वे किसी से बातचीत कर सकते थे और न किसी से मिल सकते थे। परंतु कुछ अपराध जैसे माता पिता की आज्ञा न मानना, उन की सेवा न करना, महान् अपराध समझे जाते थे। उनका यह दंड दिया जाता था कि अपराधियों के नाक, कान, हाथ पाँव काट लिए जाते थे या उनको वनवास दे दिया जाता था। छोटे छोटे अपराधों का दंड जुर्माना था। यही जुर्माना फ़ाहियान के समय में बड़े अपराधों का दंड था। मालूम होता है कि पाँचवीं-छठी शताब्दी में हूण लोगों की चढ़ाइयों के कारण ही कड़े नियमों की ज़रूरत पड़ी होगी। सच मालूम करने के लिये कष्ट नहीं दिया जाता था, किंतु अग्नि, जल, विष आदि के द्वारा परीक्षा की जाती थी। इन अनर्थ क्रियाओं को ही अचूक इलाज समझा जाता था। यदि कोई इनसे बच जाता था तो वह निरपराधी समझा जाता था। फ़ाहियान के समान ह्यूनसांग ने भी यही लिखा है कि कर बहुत हलके थे और तहसील का महकमा भी बहुत नर्म था।

हर एक आदमी अपने धनधान्य को शांति से रख सकता था और बिना किसी बाधा के खेती कर सकता था। सरकारी ज़मीन का किराया पैदावार का छठा भाग था। कर्मचारियों को जागीरें मिली हुई थीं। फ़ाहियान का अभिप्राय भी नियत वेतन से प्रायः यही था। सरकारी कामों की मजूरी ठीक समय पर दे दी जाती थी और किसी से कोई बेगार नहीं ली जाती थी।

हर्ष की मृत्यु और उसके पीछे का समय—सन् ६४८ ई० में उत्तरीय भारत के अंतिम देशी प्रमुख महाराज हर्ष की मृत्यु भारत के इतिहास में एक उल्लेख योग्य घटना है। मालूम होता है कि महाराज हर्ष के कोई पुत्र न था। इसी कारण उनका मंत्री अर्जुन राज्य का मालिक बन बैठा। उसके समय में चारों ओर देश में अकाल और अशांति फैल गई और छोटी छोटी रियासतें आपस में लड़ने लगीं। नवीं शताब्दी के प्रारंभ में एक नवीन पद्धति पर हिंदू राज्य स्थापित हुआ।

८—उत्तरीय हिंदुस्तान का मध्यकालिक इतिहास।

[हिंदू काल, सन् ।६५० ई० से १२०० ई० तक ।]

सामान्य व्यवस्था—प्राचीन हिंदुस्तान के प्रारंभिक इतिहास में, आर्यों और प्राचीन निवासियों के, जो अधिकतर द्राविड़ थे, मिलने का हाल है। वैदिक काल में ये दोनों एक दूसरे के कट्टर विरोधी थे। दूसरे काल में इन में कुछ कुछ मेल हुआ। यह मेल बौद्ध मत से हुआ। इसी लिये इस काल को कभी कभी बौद्ध काल कहते हैं। तीसरे काल में दोनों में खूब मेल हो गया। इसी काल का नाम हिंदू काल है। इसका प्रारंभ सातवीं शताब्दी से हुआ। गुप्त लोगों ने इसके लिये आयोजन कर दिया था और गोरे हुण लोगों ने इस परिवर्त्तन को पूरा किया। जब हर्षवर्द्धन का देहांत हो गया तो जितने अधीन राजा थे, सब स्वाधीन बन बैठे और उत्तरीय हिंदुस्तान में तीन सौ वर्ष तक अर्थात् ६५० ई० से ६५० ई० तक सर्वत्र अशांति फैली रही और हलचल मची रही। दसवीं शताब्दी के मध्य में कुछ दृढ़ राज्यों ने अपने को उठाया परंतु ११६२ ई० में जब वे खूब बढ़ चढ़ रहे थे, मुसलमानी चढ़ाइयों ने उनका सर्वनाश कर दिया।

समकालीन युरोपियन इतिहास से समानता— इस स्थल पर उत्तरीय हिंदुस्तान का इतिहास युरोप के समकालीन इतिहास से बिलकुल मिलता जुलता है। दोनों देशों में अज्ञानावस्था में विदेशीय असभ्य गँवार लोगों के हमले हुए। दोनों को एक ही उपाय और अभिप्राय से लिया गया। दोनों में नवीन समुदाय की उत्पत्ति पहले पहल १०वीं शताब्दी में ही हुई। दोनों के शत्रु एक ही थे। जब सारसेन लोगों ने सिसली और स्पेन को लिया, उसी समय अर्थात् ७१२ ई० में अरब लोगों ने सिंधु और मुलतान को ले लिया। सन् १०२१ ई० में महमूद ने पंजाब को लेकर ग़ज़नी में मिलाया और इसके थोड़े दिन पीछे ही सेलजूकों ने बिज़ेंटिन राज्य की सरहद पर आइकोनियम को अपने अधिकार में कर लिया। परंतु इन समानताओं के होते हुए भी दोनों देशों में बड़ा भेद था। युरोप में प्रजा भूमि के बदले राजा को युद्ध में सहायता देती थी और पोप का अधिकार मानती थी। हिंदुस्तान में नवीन हिंदूमत और राजपूतों का ज़ोर था। विदेशीय शत्रुओं से युरोप सामान्य रूप से बचा हुआ था परंतु हिंदुस्तान पूर्ण रूप से बच रहा था। ईसवी सन् से ६०० वर्ष पहले से ६०० वर्ष बाद तक परशियन, मेसोडोनियनन, इंडोसीदियन, पारथियन और हुण लोग बराबर उत्तरीय हिंदुस्तान में आते रहे, परंतु सातवीं शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक यह देश विदेशीय हमलों से प्रायः

सुरक्षित रहा और इच्छानुसार अपनी उन्नति अवनति करने का इसे अवसर मिला।

राजपूत—सातवीं और दसवीं शताब्दी के बीच में प्राचीन वर्णभेद जाता रहा और स्थिति और कार्य के अनुसार एक नवीन वर्ण प्रचलित हो गया। प्राचीन वर्णों में से केवल ब्राह्मण और क्षत्रिय, ये दो वर्ण नाम मात्र को रह गए। आर्य क्षत्रियों ने बहुत दिनों से लड़ाई का काम छोड़ दिया था। उनमें अकसर बड़े बड़े तात्विक होने लगे थे। कहते हैं उनकी संपूर्ण जाति ब्राह्मणों से वाद विवाद करने के कारण निकाल दी गई। चाहे जो हुआ हो, परंतु यह बात अब तक चली आती थी कि राज्य करना क्षत्रिय का काम है। सातवीं सदी तक क्षत्रिय राजा रहे। हाँ यह ज़रूर है कि उनमें बहुत से शूद्र क्षत्रिय थे बल्कि ओहिंद के तुर्की बादशाहों के समान बहुत से हिंदू भी नहीं थे। बीच के ज़माने में इनका स्थान राजपूतों ने ले लिया, जिन को लोग ठाकुर कहते हैं। राजपूतों की बढ़ती ने उस समय के संपूर्ण राजनैतिक इतिहास का निश्चय कर दिया है। प्रत्येक जाति जिसने कुछ दिनों भी राज्य किया, उनमें मिल गई। वे हक़ (स्वत्व) और दस्तावेज़ वग़ैरा को बिलकुल न देखते थे किंतु तलवार के ज़ोर से ज़मीन को लेते थे और सदा नई जगहों की खोज में रहा करते थे। यद्यपि वे सिंधु नदी से लेकर बिहार तक हर जगह पाए जाते हैं परंतु उनके असली स्थान राजपुताना, दक्षिणी

अवध, ये ही दो थे। उन्होंने आठवीं नवीं शताब्दी में पहले पहल अपने को प्रगट किया। अनेक बड़ी बड़ी जातियों ने उनकी भावी जगहों को ८०० और ८५० ई० के बीच में ले लिया। राजपुताने से वे पंजाब में गए और फिर दसवीं शताब्दी में काश्मीर में चले गए। इसी समय वे दक्षिणी अवध से उत्तर पूर्व में फैल गए और बारहवीं तेरहवीं शताब्दियों में ध्य हिमालय को उन्होंने अपने अधिकार में कर लिया।

राजपूतों की उत्पत्ति—इस विषय में बड़ा मतभेद है। कोई भी राजपूत जाति द्रावे की नहीं हैं। उस समय कन्नौज का राज्य हिंदुस्तान के सब राज्यों में बढ़ा चढ़ा था और द्रावे का देश बीच के समय में आर्य जाति और आर्य सभ्यता का केंद्र रहा था। इस कारण राजपूत लोग कदापि शुद्ध आर्य्य नहीं हो सकते। जब हम अत्यंत प्राचीन जातियों की असली उत्पत्ति पर विचार करते हैं तो मालूम होता है कि ये मिश्रित हैं। पंजाब में ऐसी राज्याधिकारी ब्राह्मण जातियाँ हैं जो राजपूत हो गईं। अवध में ब्राह्मण भर और अहीरों में से राजपूत बन गए परंतु अधिकतर राजपूत शूद्रता से आर्यत्व को प्राप्त हुए। राजपुताने की जातियों में से चौहान, सोलंकी, गहलोत आदि कुछ की उत्पत्ति विदेशीय है, कुछ इंडो-सीदियन जाट और गूजरों में से है। कुछ सभ्य प्राचीन राज्यवंशों में से है। अस्तु चाहे जो इनकी उत्पत्ति हो, ये सब जातियाँ आपस में शादी विवाह करते

तथा अन्य रीति रिवाजों के कारण मिलकर कुछ कुछ एक सी हो गई हैं। यद्यपि ये सब अपने को एक ही कुल और वंश से बतलाते थे, परंतु जातीय प्रेम और स्वामी के आज्ञापालन में बड़े प्रसिद्ध थे। ये ऊँची जातियों में अपनी लड़कियाँ दिया करते थे और नीची जातियों से लड़कियाँ लिया थे। शील-रक्षा के विषय में उनके समान भाव थे और जौहर और सती के भी समान रिवाज थे। खेती मजूरी का काम कोई नहीं करता था। इन्हीं समान रिवाजों के कारण वे सब एकमेक हो गए। पश्चात् उनके बंदीगण ने उनके विषय में अनेक कथाएँ बना कर उनको भी राम और कृष्ण की संतान बना दिया और उनके कुल की मनमानी प्रशंसा कर डाली।

नव-निर्माण काल—[सन् ८५० ई० से १२०० ई० तक] —१०वीं शताब्दी के मध्य तक नवीन हिंदू जाति की धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक सब प्रकार की स्थिति पूर्ण रूप से जम गई थी और अगले २५० वर्षों में निःशंक होकर उसने सब तरह से अपनी उन्नति कर ली थी। इस समय का राजनैतिक इतिहास राजपूतों से ही संबंध रखता है जो कि कच्छ की खाड़ी से रोहेलखंड तक फैले हुए थे। इस समय की तीन मुख्य घटनाएँ हैं—(१) मालवा के पँवारों का पतन, (२) राठौर लोगों का कन्नौज को जीतना, (३) चौहान के राज्य का क्षणिक प्रताप। चौहानों ने जो बड़े बलवान् राजपूत थे, आबू पहाड़ से हिसार तक और अरवली से हमीर-

पुर के समीप तक का सब देश ले लिया था। वे अनेक अर्द्ध स्वतंत्र जातियों में विभक्त थे, परंतु उनका ज़ोर साँभर झील के आस पास ही था। साँभर के राजाओं ने ११ वीं और १२ वीं सदी में संपूर्ण जाति पर अपना अधिकार जमा लिया और अजमेर को अपनी राजधानी बना लिया। उनमें सब से बड़ा और सब से पिछला राजा पृथ्वीराज था जिसने ११७९ ई० से ९२ तक राज्य किया। पृथ्वीराज हिंदुओं की ओर से मुसलमानों के विरुद्ध बड़ी वीरता से लड़ा। उसका नाम हिंदुस्तान में घर घर बच्चे बच्चे की ज़बान पर है।

पृथ्वीराज— पृथ्वीराज का सब से पहला वीरता का काम यह था कि वह कन्नौज की राजकुमारी संयोगता को सन् ११७५ ई० में कन्नौज के जेलखाने से निकाल कर ले गया। दूसरी वीरता का यह काम था कि उसने महोबा और कालिजंर के चँदेले राजा परमाल को सन् ११८२ ई० में परास्त किया, परंतु इस युद्ध की प्रसिद्धि इतनी पृथ्वीराज से नहीं जितनी उसके शत्रु बनाफर राजपूत आल्हा ऊदल से है। उनका अनुचित देश-निकाला, उनका अपनी अहीरिन माँ के कहने पर वापिस आ जाना और उनका अद्भुत शस्त्रों का प्रहार करना, इन्हीं विषयों का कवि ने वर्णन किया है। पृथ्वीराज का सब से बड़ा और सब से पिछला काम मुस-लमानों के साथ युद्ध करना था। यद्यपि पहले उसकी जीत हुई परंतु पीछे थानेश्वर के निकट सन् ११९२ ई० में उसकी

सर्वथा हार हो गई। वह और उसका बेटा, दोनों लड़ाई में मारे गए। अजमेर लूट लिया गया और दिल्ली, बदायूँ, बुलंदशहर सन् ११६३ ई० में मुसलमानों के हाथ में आ गए। पृथ्वीराज का द्रोही जयचंद भी बहुत दिनों तक नहीं बचा। थोड़ दिनों के बाद कन्नौज पर भी चढ़ाई हो गई और जयचंद लड़ाई में मारा गया या शायद कहीं डूब कर मर गया। दस वर्ष के अंदर अंदर राजपुताना और गुजरात को छोड़ कर शेष संपूर्ण उत्तरीय भारत मुसलमानों ने ले लिया।

राजपूतों की पिछली अवस्था—मुसलमानों की चढ़ाई के समय से हिंदुस्तान का मध्यकालिक इतिहास समाप्त होता है। तेरहवीं और चौदहवीं सदी में मुसलमानों ने राजपुताने के प्रत्येक किले को जीत लिया और शेष उत्तरीय हिंदुस्तान में सर्वत्र अपना अधिकार जमा लिया। "भूमि तुरुष्क-समुद्र में डूब गई" और राजपुताने की आकृति बदल गई। केवल मेवाड़ के सिसोदियों ने मुसलमानों का सामना किया। शत्रु के कई बार चित्तौर लेने से उनकी कीर्त्ति और भी बढ़ गई। कछवाहों से जब परिहारों ने ११२६ में ग्वालियर ले लिया तो वे गँवार मीनों में मिल गए और उनकी सहायता से उन्होंने ढूँढार का राज्य स्थापित किया और आमेर को अपनी राजधानी बनाया। इस राज्य ने पीछे से मुग़लों की छत्रछाया में रह कर बड़ी उन्नति की और वर्तमान जयपुर और अलवर का रूप धारण किया। बघेलों ने बारहवीं सदी में

रीवाँ पर अधिकार कर लिया। बुँदेलों ने जो गहरवारों में छोटे दर्जे के थे और राठौरों से बहुत दूर के रिश्ते में थे, तेरहवीं सदी में ओरछा में अपना राज्य जमाया और उसको बुंदेलखंड के नाम से प्रसिद्ध किया। कन्नौज से निकाले हुए राठौरों ने मारवाड़ (जोधपुर) में एक नया राज्य स्थापित किया जिस में निकटवर्त्ती भाटी और चौहान भी मिल गए। थोड़े ही दिनों में इनकी शक्ति बहुत बढ़ गई और ये गहिलोतों का सामना करने लगे।

पीछे की सदियों में मारवाड़ और मेवाड़ ही, जो पहले मित्र थे परंतु पीछे कट्टर शत्रु हो गए थे, दो मुख्य रियासतें रहीं। दिल्ली, अजमेर और महोबा के जाते ही चौहान और चँदेल इधर उधर सब जगह उत्तरीय हिंदुस्तान में फैल गए। उन्होंने हिमालय में जम्बू से अलमोड़ा तक अनेक छोटी छोटी रियासतें स्थापित कीं और चौदहवीं सदी में हाड़ा नाम की एक चौहान जाति ने दक्षिणीय राजपुताने में बूँदी और कोटा की रियासतें बनाईं। १५वीं सदी में दिल्ली, जौनपुर और गुजरात के मुसलमान राज्यों के आपस के लड़ाई झगड़ों से राजपूतों को दम लेने का अवसर मिला और यहीं उनके भाग्य ने पलटा खाया। इस समय प्रसिद्ध मानसिंह के शासन में ग्वालियर के तोमरों की बड़ी उन्नति हो रही थी। चितौर और ग्वालियर की विशाल इमारतें १५वीं सदी में बनीं। मुग़लों के समय से अच्छे युग का प्रारंभ हुआ और

अकबर के न्याय और नीति के शासन में राजपूतों ने एक बार फिर उन्नति की और वे राज्य के नेता तथा सहायक बनें।

९—दक्षिणीय हिंदुस्तान का हिंदूकाल।

दक्षिण सीमा—दक्षिणीय हिंदुस्तान और उत्तरीय हिंदुस्तान के बीच में विंध्याचल पहाड़ और नर्मदा नदी हैं। ये ही एक दूसरे को पृथक् किए हुए हैं। इनके नीचे दूर तक दक्खिन फैला हुआ है। पश्चिम में कोनकन और पूर्व में वह भूमि दक्खिन को समुद्र से पृथक् किए हुए है जिसमें गोदावरी और कृष्णा नदी बहती हैं। तुंगभद्रा और कृष्णा नदी दक्खिन को जुदा करती है। इनके नीचे वह देश है जिसको दक्षिणीय हिंदुस्तान कहते हैं। परंतु यहाँ पर दक्षिणीय हिंदुस्तान से दक्खिन और विंध्याचल और नर्मदा के नीचे की सारी भूमि से मतलब है। इसी को उरीत्तय हिंदुस्तान के हिंदू दक्षिण कहते हैं।

निवासी—प्राचीन काल में द्राविड़ लोगों ने दक्षिणी हिंदुस्तान के असली निवासियों को हरा कर उन पहाड़ों और जंगलों में निकाल दिया था जहाँ उनकी संतान अब तक पाई जाती है। इसके कुछ समय बाद आर्य लोगों ने उत्तर से आकर द्राविड़ लोगों को हरा दिया और सर्वत्र सभ्य जातियाँ स्थापित कीं और उन पर बलवान् राजाओं को नियुक्त किया। संभवतः ये जातियाँ प्राचीन द्राविड़ विभागों को प्रगट करती

थीं। दक्षिण की अत्यंत प्राचीन ये रियासतें थीं जिन पर पांड्य, चोल और चेर लोग राज्य करते थे। उनका उल्लेख अशोक के शिलालेखों ने (ई० सन् से २५० वर्ष पूर्व) और प्राचीन पुराणों में मिलता है। यह बात कि ये जातियाँ उन्नत अवस्था में थीं, पुरातन लेखों से विदित है। रामायण में पांड्य की राजधानी मदुरा की प्रशंसा की है कि उसमें सुनहरे किवाड़ लगे थे जिनमें हीरे मोती जड़े हुए थे। यह बात कि आर्य लोगों ने द्राविड़ राज्यों पर विजय पाई, देश के परंपरागत इतिहास से साफ़ तौर पर ज़ाहिर होती है जिससे मालूम होता है कि पहले पांड्यराज ने आर्य चोलराज की पुत्री से विवाह किया। इससे विदित है कि आर्य विजय के प्रारंभ काल से ही कम से कम दो तामिल राज्य थे। इस आर्य विजय के समय का बिलकुल निश्चय नहीं है। परंतु डाक्टर रामकृष्ण गोपाल भंडारकर इस बात का प्रमाण देते हैं कि यह विजय ईसवी सन् से पूर्व सातवीं और चौथी सदी के बीच में हुई। अनुमान से पहला समय अधिक ठीक मालूम होता है।

धर्म—दक्षिण हिंदुस्तान के अधिकतर लोग सदा द्राविड़ धर्म के अनुयायी रहे हैं। आर्य हिंदू धर्म बहुत ही साधारण रूप में यहाँ प्रचलित रहा है। इसमें संदेह नहीं कि बड़े बड़े मंदिर आर्य देवी देवताओं के बने हुए हैं। परंतु त्योहारों को छोड़ कर और कभी लोग उनमें जाते ही नहीं।

उनका मत आज तक पूर्वजों के अनुसार ही है अर्थात् अब तक स्थानीय देवी देवताओं से वर माँगने के लिये वे उनकी पूजा करते हैं और भूत प्रेत पिशाचादि के क्रोध को शांत करने के लिये प्रायश्चित और बलिदान करते रहते हैं। उनका विश्वास है कि वृक्षों में भूत रहते हैं। नागपूजा सर्वत्र प्रचलित है। शिव और विष्णु की उपासना केवल उच्च जातियों में की जाती है और सदा ऐसा ही हुआ है। एक समय वह था जब कि बौद्ध मत का प्रबल प्रचार था और ईसवी सन् से २०० वर्ष पहले से आठवीं नवीं शताब्दी तक इसी का ज़ोर था। इस काल के प्रारंभ में अनेक स्तूप और मंदिर बनाए गए थे। कुछ मंदिर चट्टानों में से काटे गए थे और कुछ स्तूप जैसा कि कृष्णा नदी पर अमरावती में बना हुआ है, बड़े विशाल थे। जैन मत का भी यहाँ एक समय खूब प्रचार था। अब तक भी अनेक जैन जातियाँ यहाँ पाई जाती हैं, परंतु बौद्ध मत सर्वथा नष्ट हो गया है। कंजीवरम और मदुरा जैसे धार्मिक विचारों के केंद्रों में वैष्णव ब्राह्मणों के दो संप्रदाय हैं जो एक दूसरे से घोर विरोध रखते हैं। एक वे हैं जो वेदों को संस्कृत भाषा में पूज्य मानते हैं, और दूसरे वे हैं जो वेदों के तामिल अनुवाद को पढ़ते हैं। कनारा प्रदेश में लिंग रूप में शिवपूजा का अधिक प्रचार है।

द्राविड़ जाति—आर्य विजय के समय से ब्राह्मण जाति मुख्य रही है परंतु आज कल शिक्षित शूद्र उनको दबा

रहे हैं। क्षत्रियों का अभाव ही है। व्यापारियों में कुछ लोग अपने को वैश्य कहते हैं, परंतु इस बात का कोई प्रमाण नहीं। इस कारण से लोग प्रायः या तो ब्राह्मण हैं या शूद्र या परिहा। परिहा लोग प्राचीन द्राविड़ कुल में से हैं। थोड़े थोड़े मुसलमान सब जगह हैं। कहीं कहीं बहुत ज़्यादा हैं परंतु इस प्रायद्वीप में उनका कभी इतना ज़ोर नहीं हुआ जितना दक्खिन में। विजयनगर के अधिपतियों ने १४ वीं शताब्दी में तुंगभद्रा और कृष्णा नदियों पर उनको रोक दिया था। जब १६ वीं शताब्दी में ये सर्वथा नष्ट हो गए तो इनमें आपस में फूट पड़ गई। थोड़े दिनों के बाद ही मरहट्टों ने फिर उनकी शक्ति को रोक दिया। इसी कारण से अब तुंगभद्रा के दक्षिण में केवल हिंदू ही हिंदू हैं। नाम मात्र को भी मुसलमान नहीं हैं। हिंदुस्तान भर में और कहीं ऐसा नहीं है। द्राविड़ मंदिर जिनमें बड़े बड़े चित्रकारी और नक़्क़ाशी के काम हो रहे हैं, जिनकी भारी भारी छतें हैं और बड़े बड़े बुर्जों के दर्वाज़े हैं, सब देशी बने हुए हैं। सातवीं शताब्दी से इसकी उन्नति मालूम होती है। सिक्कों के देखने से भी यही मालूम होता है। दक्खिन में पहले से सिक्का सोने का था। उत्तरीय हिंदुस्तान के सिक्कों पर जो बाहरी असर पड़ा वह दक्षिण में नहीं पाया जाता।

सिपाही—मालूम होता है कि प्राचीन काल में द्राविड़ लोग सिपाही रहे हैं। उस समय वीर पुरुषों का बड़ा सम्मान किया जाता था। अब तक ग्रामों में जहाँ तहाँ उनके स्मारक

पाए जाते हैं जिन में उनकी वीरता का उल्लेख है। मलाबार में नायर लोगों ने क्षत्रिय जाति स्थापित कर रक्खी है जिससे मालूम होता है कि सेना बहुत बड़ी होगी। १६ वीं शताब्दी में एक पुर्तगाली इतिहासकार लिखता है कि विजयनगर का राजा एक लाख फ़ौज लड़ाई के लिये ले गया और उसका राज्य सैनिक सेवा पर स्थापित था। हैदर अली की फ़ौज में अधिकतर द्राविड़ लोग थे। पिछले दिनों में तेलिंगाना युरोपियन शिक्षित सिपाहियों का नाम हो गया जो अब तक चला आता है।

नाविक, मल्लाह—प्राचीन काल में किनारे के रहने-वाले लोग वीर नाविक भी ज़रूर होंगे। बुद्ध कथाओं में इस बात का उल्लेख है कि ई० सन् से ५ वीं शताब्दी पूर्व में पश्चिमीय किनारे के बंदरों और पश्चिमी एशिया के बीच में समुद्र द्वारा बड़ी भारी तिजारत होती थी। वेदों में इससे भी पुराने काल की साक्षी मिलती है। जब रोमी लोग पहली सदी में हिंदुस्तान में आए तो उन्होंने देखा कि फ़ारिस की खाड़ी और लंका से अच्छी तिजारत होती है। प्लीनी का कथन है कि जिन जहाज़ों से लं. १५ साथ तिजारत होती थी वे २७ हज़ार गेलन तक बोझ उ ठा सकते थे। पूर्वीय किनारे पर अंध्रकुल के सिक्के (ईसवी सन् से २०० वर्ष पहले से २५० वर्ष बाद तक) भी इसकी पुष्टि करते हैं। उनमें से बहुतों में बड़े बड़े आकार के जहाज़ बने हुए हैं।

१०—मुसलमानी हिंदुस्तान।

[सन् ६३७ ई० से १८०३ ई० तक।]

तीन समय—मुसलमानी हिंदुस्तान का समय स्वयमेव तीन समयों में विभाजित है—(१) चढ़ाइयों का समय सन् ६३७ ई० से १२०६ ई० तक जब मुसलमानों ने अंतिम विजय प्राप्त कर ली, (२) मुसलमानी राज्यों की कथा सन् १२०६ ई० से १५२६ तक जो इस प्रथम विजय के अनंतर स्थापित हुए और (३) मुग़लों का राज्य सन् १५२६ ई० से १८०३ तक जो बाबर की सब से पिछली पश्चिमीय जीत से आरंभ हुआ।

(१) चढ़ाइयाँ और अंतिम विजय, सन् ६३७ ई० से १२०३ ई० तक।

इसलाम—मोहम्मद साहब संसार में एक ऐसा मज़हब स्थापित करके, जिसका आज तक धर्मप्रचार में उत्साह कम नहीं हुआ, सन् ६३२ ई० में मर गए। मोहम्मद साहब की मृत्यु से पहले ही इसलाम युद्धोद्यत मत हो गया था और उनके उत्तराधिकारियों के समय में तो इसकी शक्ति राजनैतिक कार्यों में अर्थात् देश देशांतरों को अपने अधिकार में लाने में इतनी ही बढ़ गई थी जितनी कि उसको अन्य जातियों के मुसलमान बनाने में सफलता हो रही थी। कुछ ही वर्षों में मिस्र, फ़ारिस, सीरिया ने नवीन शासकों की अधीनता स्वी-

कार कर ली और उनको लाचार नवीन मत ग्रहण करना पड़ा।

महमूद ग़ज़नवी—हिंसक अरबवालों की दृष्टि में हिंदुस्तान प्रारंभ ही से सोने की चिड़िया मालूम होता था, परंतु एक दूसरी ही जाति नवीन मत के लिये हिंदुस्तान पर विजय प्राप्त करने के नियुक्त थी। दसवीं शताब्दी में उत्तरीय फ़ारिस के पाँचवें समानी सरदार ने जो एक तुर्की दास था, ख़ास अपनी एक रियासत स्थापित की और काबुल और कंधार के बीच में ग़ज़नी के अपनी राजधानी बनाया। उसके चैाथे अधिकारी सुब्कतुगीन ने इस राज्य के अच्छी तरह दृढ़ किया और इसको पूर्व में पेशावर तक बढ़ा दिया। सुब्कतुगीन का पुत्र और उत्तराधिकारी महमूद जो सन् ९६७ में पैदा हुआ, ९९९ में राज्यसिंहासन पर बैठा और १०३० में परलोक वास कर गया, अपने समय में सब से बड़ा मुसलमान बादशाह हुआ है। इसने अपने शासन के आदि में ही हिंदुस्तान में लगातार चढ़ाइयाँ करनी शुरू कीं। सब से पहली चढ़ाई ९९९ में हुई और सब से पिछली १०२५-२७ में हुई। इन २८ वर्षों में कम से कम १५ बार महमूद हिंदुस्तान में आया।

मालूम होता है कि हिंदुस्तान में जीते हुए मुल्कों को अपने अधिकार में रखने और उन पर शासन करने का ख़याल महमूद के दिल में नहीं आया था। इसी कारण से उसकी युद्ध

में लगातार कोशिश और अद्भुत सफलता से भी मुसलमानी राज्य, छोटे से उत्तरीय पश्चिमीय कोने से जो ख़ास उसके राज्य से मिला हुआ था, आगे नहीं बढ़ा। मालूम होता है कि पंजाब में महमूद का ज़्यादा असर पड़ा क्योंकि यह बहुत काल तक ग़ज़नवी राजाओं के अधिकार में सीमावर्त्ती (सरहद्दी) देश के तौर पर रहा। जब थोड़े ही दिनों के बाद ग़ज़नी में उनका कुल नष्ट हो गया तो वे सन् ११६० ई० में लाहौर में चले आए और यहाँ छिपे छिपे राज्य करते रहे, परंतु सन् ११८६ में यहाँ से भी ग़ोरी राजाओं द्वारा निकाले गए। ग़ज़नी में भी ग़ोरी वंश ने ही अपना आधिपत्य जमा लिया था।

ग़ोर वंश—ग़ज़नी और हेरात के मध्य में स्थित ग़ोर देश के अधिपति मोइज़्ज़ुद्दीन मोहम्मद ने सन् ११७६ ई० में हिंदुस्तान की ओर प्रस्थान किया और अपने जीते जी तीस वर्षों में अपने और अपने सरदारों के उद्योग से हिंदुस्तान में पेशावर से बंगाल की खाड़ी तक एक स्थायी राज्य स्थापित कर लिया। मोहम्मद ग़ोरी ने स्वयं हिंदुस्तान का राज्य नहीं किया, यहाँ का राज्य उसके गवर्नरों द्वारा होता रहा जो अधिकतर तुर्की ग़ुलाम थे। सन् १२०६ ई० में मोहम्मद ग़ोरी की मृत्यु के समय मुख्य चार गवर्नर थे-(१) क़ुतुबुद्दीन ऐबक जिसके अधिकार में दिल्ली और लाहौर थे, (२) ताजुद्दीन इयलदुज़ जो कुर्रम घाटी में राज्य करता था, (३) नासिरुद्दीन क़ुबाजह जो मुलतान और सिंध का अधिपति था

और (४) मोहम्मद, जो खल्ज़ तुर्क बख़्त्यार का पुत्र था और बंगाल में लखनौती का गवर्नर था। मोहम्मद ग़ोरी के मरने पर ये सब गवर्नर स्वतंत्र राजा बन बैठे।

(२) मुसलमानी राज्य, सन् १२०६ से १५२६ ई० तक।

(क) उत्तरीय हिंदुस्तान—दिल्ली के बादशाह।

दिल्ली के बादशाह—आरंभ से दिल्ली के बादशाह उत्तरीय हिंदुस्तान की अन्य मुसलमानी रियासतों पर अपना अधिकार जमाते रहे हैं। इस प्रधानता के कई कारण हैं। प्रथम तो कुतुबुद्दीन की बुद्धिमत्ता और उसका हिंदुस्तान से दीर्घ संबंध। दूसरे दिल्ली की मध्य में स्थिति और सीमावर्त्ती देशों से, जहाँ से सर्वोत्तम सिपाही आए, निकटता। तीसरे हिंदु समय की आन जो अब तक दिल्ली में पाई जाती थी।

पाँच घराने—सन् १२०६ ई० से १५२६ ई० तक इन ३२० वर्षों में ३४ बादशाहों ने दिल्ली में राज्य किया। उनके ५ घराने थे—(१) मोइज़्ज़ी गुलाम बादशाह—सन् १२०६ ई० से १२९० ई० तक, (२) ख़िल्जी बादशाह—सन् १२९० से १३२० ई० तक, (३) तुग़लक़ बादशाह—सन् १३२० ई० से १४१३ ई० तक, (४) सैयद बादशाह—सन् १४१४ से १४५१ ई० तक और (५) लोदी बादशाह—सन् १४५१ से १५२६ ई० तक। यद्यपि ये इस प्रकार बटे हुए थे तथापि एक कुल से दूसरे कुल में परिवर्त्तन या तो अधिकार के बहाने से हुआ

या किसी मुखिया सरदार के चुनाव से हुआ। कभी भी किसी नवीन पश्चिमीय आक्रमण के बाहरी प्रभाव से कोई परिवर्त्तन नहीं हुआ। इस समय के दुःख या कष्ट का पता इसी से लग जाता है कि हर एक राजा के राज्य का औसत काल साढ़े नौ वर्ष के लगभग रहा है। इसके बाद सन् १५२६ ई० से १८०३ ई० तक इन २७६ वर्षों में १५ राजा तख़्त पर बैठे अर्थात् प्रत्येक राजा के राज्य का औसत काल १८. वर्ष रहा है जो उससे दुगने के बराबर है। प्रायः हर बार जब कोई राजा मरा, स्वत्व और अधिकार के लिये आपस में झगड़ा हुआ और देश में अशांति फैली। दिल्ली के २४ बादशाहों में से १२ तख़्त से उतारे गए या मार डाले गए या लड़ाई में मर गए। मुग़ल बादशाहों के समय में सन् १५२६ ई० से १७१२ ई० तक हुमायूँ को छोड़कर न तो कोई तख़्त से उतारा गया, न मारा गया और न कोई लड़ाई में मरा। लगातार सात पीढ़ीयों तक बाप के बाद बेटा गद्दी पर बैठता रहा। इस बीच में दो ज़रा ज़रा सी लड़ाइयाँ हुईं जो बहुत जल्दी ख़तम हो गईं।

ग्यारह प्रसिद्ध बादशाह—चौंतीस बादशाहों में ग्यारह केवल प्रसिद्ध हैं, शेष नाम मात्र के बादशाह थे। (१) कुतुबुद्दीन ऐबक, सन् १२०६ से १२१० तक। (२) शमशुद्दीन इलतिमिश जो कुतुबुद्दीन का दामाद और अधिकारी था, सन् १२१४ ई० से १२३६ तक। (३) नासिरुद्दीन महमूदशाह

जो अलतमश का बेटा था, सन् १२४६ से ६६ तक। (४) गयासुद्दीन बलवन जो अलतमश का गुलाम और दामाद था, सन् १२६६ से ८६ तक। (५) अलाउद्दीन मोहम्मद शाह खिल्जी, सन् १२९६ से १३१६ तक। (६) गयासुद्दीन तुग़लक शाह, सन् १३२० से १३२५ तक। (७) मोहम्मद जो तुग़लक का बेटा था, सन् १३२५ से ५१ तक। (८) फ़ीरोज़शाह जो मोहम्मद का भतीजा था, सन् १३५१ से ८८ तक। (९) बहलोल लोदी सन् १४५१ से ८९ तक। (१०) सिकंदर लोदी, १४८९ से १५१७ तक। (११) इबराहीम लोदी सन् १५१७ से १५२६ तक।

दिल्ली राज्य का नाश—इबराहीम लोदी का काबुल के बादशाह बाबर के साथ झगड़ा हो गया। हिंदुस्तान में जिन जगहों को तुर्कों ने ले लिया था उन सब पर बाबर अपना स्वत्व और अधिकार जमाता था। २१ अप्रैल सन् १५२६ ई० को पानीपत के समीप दोनों दलों में लड़ाई छिड़ गई और घोर संग्राम होने लगा। परिणाम यह हुआ कि दिल्ली की फौज बिलकुल हार गई और इबराहीम मार डाला गया। बाबर फिर दिल्ली आगरे की ओर बढ़ा और लोदी राज्य के स्थान में अब मुग़ल वंश स्थापित हो गया। मुगल बादशाह अपने को मुग़ल न कह कर गुरगानी चग़ताई वंश से बतलाते थे। अब उन छोटी छोटी रियासतों का ज़िक करते हैं जिनका इन ३२० वर्षों में अर्थात् सन् १२०६ और १५२६ ईसवी के बीच में उत्तरीय भारत में जन्म मरण हुआ।

(ख) उत्तरीय हिंदुस्तान की छोटी छोटी रियासतें, सन् १२०६ ई० से १५६१ तक।

लाहौर मुश्किल से इस श्रेणी में आता है क्योंकि दिल्ली के बादशाह से पृथक् किसी स्वतंत्र अधिपति के अधिकार में यह कभी भी बहुत समय तक नहीं रहा। यह प्रायः सदा स्थानीय अधिपतियों के अधिकार में रहा है। सन् १५६२ ई० में यह मुग़ल बादशाह अकबर को मिल गया। सन् १४४३ से १५२५ तक मुल्तान में स्वतंत्र राजा था। बंगाल विजय होने के दिन से ही स्वतंत्र हो गया था और उस पर दिल्ली राज्य की नाम मात्र की अधीनता रह गई थी। परंतु इसकी स्वाधीनता सन् १५७६ में जाती रही और इसका अधिपति दाऊद शाह क़ैद कर लिया गया और मार डाला गया। काश्मीर इतनी जल्दी मुसलमानी अधिकार में नहीं आया जितनी जल्दी पंजाब। सन् १३३४ ई० में फ़ारिस के एक शाहमीर ने राजा के विरुद्ध बलवा करके अपने को शमशुद्दीन के नाम से बादशाह प्रसिद्ध किया। उसके एक उत्तराधिकारी सिकंदर के राज्य में प्रायः संपूर्ण प्रजा मुसलमान हो गई और वह आज तक मुसलमान है। सन् १५८६ ई० में अकबर ने, जो उस समय सिंधु नदी पर अटक में ठहरा हुआ था, काशमीर में सेना भेजी, जिसने बिना किसी कठिनाई के बहुत जल्द घाटी को जीत लिया। जौनपुर को फ़ीरोज़शाह तुग़लक ने गोमती नदी पर १३५१ ई० में बसाया। सन् १३६४ ई० में

ख्वाजेजहाँ ने अपने को स्वतंत्र बादशाह बना लिया और सुल्तान-उश-शर्क (पूर्व देश का राजा) के नाम से अपने को प्रसिद्ध किया। सब से अंतिम शर्क़ी बादशाह हुसेन शाह सन् १४७६ ई० में तख़्त से उतार दिया गया। सन् १४९३ ई० में जब शर्क़ी राज्य नष्ट हो गया तो वह बंगाल में भाग गया। गुजरात जो हिंदुस्तान के सब से अधिक उपजाऊ और धनवान् प्रांतों में से था, सन् ११९६ ई० में दिल्ली राज्य में मिल गया। सन् १३९४ ई० में ज़फ़रख़ाँ सूबेदार ने भी अपने को स्वाधीन कर लिया। सन् १५७२ ई० में इस राज्य का सर्वथा विनाश हो गया। जब अकबर ने दिल्ली से अहमदाबाद को कूच किया और अंतिम राजा से मुग़ल बादशाहों ने राज्याधिकार ले लिया। सन् १४०१ ई० में मालवा के अधिपति दिलावरख़ाँ ने भी अपने को स्वतंत्र कर लिया और धार को अपनी राजधानी बना लिया। सन् १५३१ ई० में मालवा को गुजरात में मिला दिया गया। सन् १५३५ ई० में हुमायूँ ने थोड़े दिन के लिये इस सूबे को जीत लिया। सन् १५६४ ई० में यह पूर्ण-तया अकबर के अधिकार में आ गया।

(ग) दक्षिणीय हिंदुस्तान।

नर्मदा के दक्षिण की ओर सब से पहले मुसलमानों की चढ़ाई सन् १२९४ ई० में हुई। अलाउद्दीन ख़िलजी कड़ा से चल कर बुंदेलखंड होता हुआ खानदेश में देवगिरि में पहुँचा और पश्चिमीय मार्ग से दिल्ली को वापिस आया।

लगभग १० वर्ष के बाद सन् १३०५ ई० में फिर अला-उद्दीन का सेनापति मलिक काफ़ूर लंका के सामने हिंदुस्तान में मुसलमानी झंडा ले गया। १४वीं शताब्दी के आरंभ में दक्षिण में तीन हिंदू राज्य थे—(१) उत्तर पश्चिम में देवगिरि, (२) उत्तर पूर्व में वारंगल और (३) द्वारसमुद्र जहाँ से बल्लाल लोगों ने शेष की दक्षिणीय रियासत को ले लिया। देवगिरि के राज्य को पहले ही अलाउद्दीन ने नष्ट कर दिया था। इसके बाद कभी उसने उन्नति नहीं की। सन् १३१०-११ में मलिक काफ़ूर ने बल्लाल देश को जीत लिया था और वारिंगल पर चढ़ाई की। सन् १३२२ मे वारिंगल को उलुग़ख़ां ने पूर्ण रूप से ले लिया था। दक्षिण में एक नया राज्य स्थापित हुआ जिसकी राजधानी विजयनगर थी। यह राज्य सन् १३३६ से १५६५ तक रहा।

दक्षिणीय देशों में दिल्ली का अधिकार बहुत दिनों तक नहीं रहा। थोड़े दिनों में कुछ राज्यद्रोही कर्मचारियों ने हसन नाम के एक अफ़ग़ान अधिकारी को, जो दिल्ली में पैदा हुआ था और ज़ुफ़रख़ाँ के नाम से प्रसिद्ध था, दक्षिण का पहला बादशाह चुना। सन् १३४७ ई० में वह राज्यसिंहासन पर बैठा और बहमनशाह की पदवी से उसने अपने को विभूषित किया। बहमन शाह के कारण ही इसके कुल के राजा बहमनी के नाम से प्रसिद्ध हैं। ऐसे ही कुछ कारणों से खान-देश ने भी दिल्ली राज्य की अधीनता छोड़ दी। फारूकी

बादशाहों ने सन् १३६६ से १५६६ तक राज्य किया। यद्यपि सन् १४८२ ई० में ही बहमनी राज्य का पतन शुरू हो गया था तथापि सन् १५२६ ई० तक अर्थात् पहले बादशाह के राज्याभिषेक से १८० वर्ष तक यह किसी तरह चलता रहा। सन् १५२६ ई० में यह सर्वथा नष्ट हो गया। पिछले ४० वर्षों में जितने बादशाह हुए वे सब नाम मात्र के बादशाह थे, शक्ति किसी में भी नहीं थी। उनके ५ उच्च कर्मचारियों ने बहमनी राज्य के ५ भाग करके उसे आपस में बाँट लिया। पाँचों ने अपने अपने नाम से ५ राज्य स्थापित किए जिनके नाम ये हैं—

(१) बीजापुर के आदिलशाही, सन् १४६० ई० से १६८६ तक।

(२) अहमदनगर के निज़ामशाही, सन् १४६० ई० से १६३७ तक।

(३) गोलकंडा के कुतुबशाही, सन् १५१२ ई० से १६८७ तक।

(४) एलिचपुर के इमादशाही, सन् १४८४ ई० से १५६४-७१ ई० तक।

(५) बीदर के बरीदशाही, सन् १४६२ ई० से १६०६ ई० तक।

सन् १५१० ई० में पुर्तगालियों ने पश्चिमीय किनारे पर गोआ में डेरा डाला।

(३) मुग़ल राज्य सन १५२६ ई० से १८०३ ई० तक।

१६ वीं शताब्दी के पहले चतुर्थांश के अंत में बाबर की जीत से ऐसे दृढ़ और पुरुषार्थी बादशाहों का प्रवेश हुआ कि जिन्होंने अपने साहस और उद्योग से सारे हिंदुस्तान को अपने अधिकार में कर लिया। अनुमान २०० वर्ष तक ये बड़े साहसी, उद्योगी और परिश्रमी रहे और बहुत दिनों तक इन्होंने राज्य किया। १७१२ ई० तक सब अधिकार स्वयं बादशाह के हाथ में रहा, कोई अधिकारी, सेनापति, मित्र वा संबंधी उनको हटाने में समर्थ नहीं हुआ। कभी राजगद्दी के विषय में कोई झगड़ा नहीं हुआ। यदि कोई हुआ भी तो वह बहुत जल्दी शांत हो गया और उससे राज्य में कोई बाधा नहीं पहुँची। इसके अतिरिक्त अधिक बादशाहों ने बहुत समय तक राज्य किया। इस प्रकार अब हम को दो सौ वर्षों से अधिक का हाल कहना है जिनमें शासन दृढ़ रहा और शांति और व्यवस्था दिन दिन बढ़ती गई। अंत में औरंगज़ेब ने १६५८ से १७०७ तक राज्य किया। उसके समय में मुग़लराज्य मानों उन्नति के शिखर पर पहुंच गया। परंतु उसी समय में अवनति के बीज भी गुप्त रूप से बोए जा चुके थे। प्रकृति ने भी यह पसंद नहीं किया कि इतने बड़े देश पर एक व्यक्ति राज्य करे। ज्योंही राज्य कुमारी अंतरीप तक पहुँचा उसका पतन होना शुरू हो गया। अब तो अवनति का समय आ गया। एक निर्बल बादशाह

मरा, दूसरा भी निर्बल राज्याधिकारी हुआ। मंत्रियों और कर्मचारियों ने सब अधिकार अपने हाथ में ले लिया। दक्षिण के हिंदू दिल्ली की ओर बढ़ते गए। उत्तर पश्चिम में सिक्ख लोग अशांत और लड़ने को तैयार हो रहे थे। विदेशी चढ़ाइयाँ भी हो रही थीं और मुग़ल राज्य अँग्रेज़ों के १८०० ई० में दिल्ली लेने से ५० वर्ष पहले से नाम मात्र को रह गया था। सन् १८०३ ई० में मुग़ल राज्य जाता रहा। शाह-आलम जो अंधा था, १८०६ में मर गया और उसके बाद अँग्रेज़ों से संधि के अनुसार अकबरशाह द्वितीय तख़्त पर बैठा परंतु वह भी १८३७ ई० में मर गया। इसके बाद इसका बेटा बहादुर शाह गद्दी पर बैठा। यह ग़दर के बाद रंगून में भेज दिया गया, और वहाँ ही सन् १८६२ ई० में मर गया।

चुग़ताई गुरगानी अर्थात् मुग़ल बादशाह।

[सन् १५२६ ई० से १८०३ ई० तक।]

(१) ज़हीरुद्दीन बाबर (सन् १५३० ई० में मरा।)

|

(२) मोहम्मद हुमायूँ (सन् १५५६ ई० में मरा।)

|

(३) जलालुद्दीन अकबर (सन् १६०५ ई० में मरा।)

|

(४) नूरुद्दीन मोहम्मद जहांगीर (सन् १६२७ ई० में मरा।)

|

(५) शहाबुद्दीन मोहम्मद शाहजहाँ (सन् १६५८ ई० में तख़्त से उतार दिया गया और १६६६ ई० में मर गया।)

|

(६) मोहिउद्दीन मोहम्मद औरंगज़ेब आलमगीर (सन् १७०७ ई० में मरा)

(७) मोहम्मद शाह आलम बहादुरशाह (सन् १७१२ ई० में मरा।)

(८) मोइज़ुद्दीन जहांदार शाह (सन् १७१२ ई० में मरा।)

अज़ीमुद्दीन अज़ीमुश्शान

रफ़ीउल्क़द्र रफ़ीउश्शान

खुजिस्त अख़्त्यार जहांशाह

(९) मोहम्मद फ़र्रुख़सियर (१७१६ में मार डाला गया।)

(१२) मोहम्मद शाह (१७४८ में मरा।)

मोहम्मद इबराहीम

(११) रफ़ीउद्दौला शाहजहां २ (१७१६ ई० में मरा।)

(१०) रफ़ी उद्दरजात १७१६ ई० में मरा।)

(१३) अहमदशाह (१७५४ में तख़्त से उतार दिया गया।)

(१४) अज़ीज़ुद्दीन आलमगीर २ (१७५६ में मारा गया।)

(१५) मिर्ज़ा अब्दुल्ला अली गौहर शाहआलम २ (१८०६ में मर गया।)

अकबरशाह (१८३७ में मर गया।)

बहादुरशाह (१८६२ में मर गया।)

११—देशभाषाओं का साहित्य।

भक्तिमार्ग—सब से पहले भक्ति का उपदेश संस्कृत ग्रंथ भगवद्गीता में किया गया है। पश्चात् पुराणों और विशेषकर भागवत में इसकी पुष्टि की गई है। हिंदुस्तान में इसके इतिहास या उत्पत्ति के समय का ठीक ठीक पता नहीं है। इसका मूल तत्त्व देवता विशेष पर विश्वास है। यदि हम कुछ विद्वान् हिंदुओं के मत को छोड़ कर जिनके धार्मिक ग्रंथ संस्कृत में हैं, विचार करें तो मालूम होगा है कि नवीन हिंदू धर्म में मुख्यतया तीन बातें मानी जाती है अर्थात् ईश्वर, उसका अवतार और उसकी शक्ति।

देशभाषा का साहित्य वस्तुतः धार्मिक है—वर्तमान हिंदुस्तान का आधे से ज्यादा साहित्य धार्मिक दृष्टि पर स्थिर है। इसमें या तो ईश्वर के राम और कृष्ण अवतारों में से किसी का या शिव दुर्गा का वर्णन होता है। शेष के ४/५ भाग में टीकाएँ अथवा काव्य ग्रंथ हैं। ये भी उन धार्मिक ग्रंथों के ही अभिप्राय को पुष्ट करते हैं। केवल अवशिष्ट भाग दैहिक या लौकिक है।

अनेक भाषा ग्रंथकारों की हीनावस्था में उत्पत्ति—यह बात स्मरण रखने योग्य है कि अनेक भाषा ग्रंथकारों की

उत्पत्ति प्रायः निर्धन और नीच कुल में हुई है। उनमें ऐसे ऐसे भी हुए हैं जिन्होंने हिंदूचरित्र का बहुत कुछ सुधार किया। परंतु इसके विपरीत कालिदास, भवभूति, शंकर आदि संस्कृत-ग्रंथकार ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए और राज्य दरबारों में रहे। वर्तमान काल के कवियों में सर्व श्रेष्ठ तुलसीदास जी यद्यपि ब्राह्मण कुल में पैदा हुए थे, परंतु पैदा होते ही उनके माता पिता ने उनको छोड़ दिया था। किसी संन्यासी ने उनको उठा लिया था और अपने पास रखकर पढ़ाया था। कबीर जुलाहे के घर में पैदा हुए थे। और ऐसे ही दादू भी थे। मरहटा काव्य के जन्मदाता नामदेव दर्ज़ी थे। उनके प्रसिद्ध उत्तराधिकारी तुकाराम एक निर्धन शूद्र दुकानदार थे। दक्षिणीय हिंदुस्तान के आकाश का अत्यंत जाज्वल्यमान और उज्ज्वल तारा श्रुवल्लवर महा नीच और अधम कुल में अर्थात् परिहा जाति में उत्पन्न हुआ था और सर्वोत्तम प्रशंसनीय तेलगू विद्वान वेमन एक अशिक्षित गँवार किसान था।

गद्य और पद्य—हिंदी साहित्य दो भागों में विभक्त है। १८ वीं शताब्दी से पहले पद्य का प्रचार था। इसके बाद गद्य का प्रारंभ हुआ। पद्य के समय में गद्य का प्रायः अभाव सा था। केवल टीका वगैरह ग्रंथों के लिखने में इसका प्रयोग होता था। टीका ग्रंथ भी प्रायः छंदों में ही लिखे जाते थे। ग्रंथकारों की स्वभावतः इस ओर रुचि थी। उनकी

कविता सदा सुंदर और सरस होती थी, परंतु उनका गद्य अभ्यास के न होने से भद्दा लगता है। गद्य का प्रचार दो कारणों से हुआ। एक तो अँग्रेज़ी प्रभाव, दूसरे कंपनी के छोटे नौकरों के लिये प्रारंभिक पाठ्य पुस्तकों की आवश्यकता। पहले पहल लेखकों को बड़ी कठिनाई हुई, परंतु १०० वर्ष के अभ्यास से अब बड़ी आसानी मालूम होती है। आज कल की गद्य १०० वर्ष पहले की गद्य से बिलकुल निराली है, परंतु बड़ा आश्चर्य है कि बहुत काम युरोपियन लोगों को यह बात मालूम है और अब तक बहुत सी ऐसी पुस्तकें सरकारी परीक्षाओं में शामिल हैं जो मारकुइस वेलेज़ली के समय में लिखी गई थीं।

राम साहित्य--तुलसीदास—राम संबंधी साहित्य का प्रारंभ १२ वीं शताब्दी में दक्षिणीय हिंदुस्तान में हुआ। इसके जन्मदाता रामानुज थे। उनका जन्म कंजीवरम में हुआ था। १५ वीं शताब्दी के आदि में रामानंद उनके मत के मुख्य प्रचारक थे। रामानंद के बाद सातवीं गुरु-शिष्य पीढ़ी में तुलसीदास जी हुए जो १५३२ ई० से १६२३ तक रहे। सब से पहली बात जो उनके विषय में स्मरण रखने योग्य है, वह यह है कि उनको पूर्णतया सफलता हुई। हिंदुस्तान में अनेक धर्मोपदेशक और सुधारक हुए परंतु गौतम बुद्ध को छोड़ कर और किसी के भी तुलसीदास जी के समान अनुयायी नहीं हुए। यद्यपि कबीर और दादू के लाखों अनुयायी हैं, परंतु आज

उत्तरीय भारत में कम से कम ६ करोड़ मनुष्य तुलसीदास जी के माननेवाले हैं। यद्यपि तुलसीदास जी हिंदुस्तान के महान् सुधारकों और महा कवियों में से हुए हैं तथापि उन्होंने अपना कोई पृथक् मत नहीं चलाया। केवल इतने ही उपदेश पर संतोष किया कि किस प्रकार मनुष्य अपने ही घर अपने ही कुटुंब में रहकर मुक्ति प्राप्त कर सकता है।

तुलसीदास जी ने अत्यंत सुंदर सरस काव्य में उपदेश दिया। पूर्वीय हिंदी ऐसी भाषा है कि इसका रूप नमनशील, शब्दसंग्रह विपुल और स्वर बड़ा ही सरस और मधुर है। इसमें ही उन्होंने बड़ी चतुरता और गंभीरता से काव्य किया है। उनका जगत् विख्यात सर्वोत्तम ग्रंथ रामचरितमानस वाल्मीकीय संस्कृत रामायण का निरा अनुवाद नहीं है, किंतु बिलकुल स्वतंत्र है। तुलसीदास जी केवल विरक्त ही नहीं थे, किंतु वे ऐसे मनुष्य थे जिनका एक विशेष जीवन भी था उनका उपदेश विद्वानों को नहीं होता था, किंतु उन लाखों करोड़ों भोले भाले लोगों को होता था जो उनके देश के रहनेवाले थे और जिन्हें वे अच्छी तरह जानते थे, जिनके संग वे बहुत दिनों तक रहे थे, जिन से उन्होंने भिक्षा ली थी, जिनके साथ उन्होंने प्रार्थना की थी, जिनको उन्होंने शिक्षा दी थी और जिनके सुख दुःख में उन्होंने साथ दिया था। अतएव इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि ऐसा मनुष्य जो असाधारण कवि था और जिसकी नस नस में सुधार का

जोश भरा हुआ था, जन साधारण का प्रियपात्र हो गया। लाखों मनुष्य जो प्रकृति माता की गोद में पलते हैं और उसके गुप्त रहस्यों से परिचित हैं, एक स्वर से बोल उठे कि यह महात्मा हमारा अंतर्भेदी है। आओ, हम इसको अपना नेता और गुरु बनावें।

रामायण के अतिरिक्त ११ और ग्रंथ तुलसीदास जी के बनाए हुए कहे जा सकते हैं। उनका अधिकतर यही विषय है। तुलसीदास जी के सिद्धांतों का खूब ज़ोर शोर से प्रचार हुआ और सर्वत्र भारतवर्ष में उनका यथेष्ट आदर हुआ। परंतु किसी ने उनका अनुकरण नहीं किया। सैकड़ों वर्ष बीत गए परंतु कोई भी उन जैसा नहीं हुआ। वे हिंदुस्तान के सच्चे नेता और पथ-प्रदर्शक थे। आज तक उनकी विमल कीर्त्ति उसी प्रकार सुरक्षित है। जब तक उनके प्रदेश के धार्मिक और आत्मिक जीवन का हिंदुस्तान के उन प्रदेशों से जहाँ राम की उपासना नहीं की जाती, मिलान न किया जाय तब तक उनके सम्मान और महत्त्व का ठीक ठीक अंदाज़ा नहीं लग सकता। साहित्य पर भी तुलसीदास जी का बड़ा प्रभाव पड़ा है। उनके समय से उत्तरीय हिंदुस्तान का समस्त वीरचरित्र विषयक काव्य पूर्वीय हिंदी में लिखा गया है।

कृष्ण साहित्य—कृष्ण को ईश्वरावतार मानने का विचार इतना ही प्राचीन है जितना कि संस्कृत महाभारत।

भागवत पुराण के १० वें खंड में बड़े ज़ोर से इसका उल्लेख है और जयदेव के गीतगोविंद में भी इसी का कथन है, परंतु जब तक तैलंग ब्राह्मण वल्लभाचार्य ने १६ वीं शताब्दी के आदि में इसका प्रचार नहीं किया, यह सार्वजनिक मत नहीं हुआ। चैतन्य जिसने बंगाल में इसी प्रकार का मत स्थापन किया, वल्लभाचार्य का जामाता था। राम साहित्य अधिकतर वीर चरित्र विषयक है, परंतु कृष्ण साहित्य प्रायः संपूर्ण गीतात्मक है। उत्तरीय हिंदुस्तान में वल्लभाचार्य के सब से अधिक प्रसिद्ध शिष्य आगरे के अंधे कवि सूरदास जी थे। उन्होंने व्रज भाषा में पश्चिमीय हिंदी को लिखा है। इनकी भाषा इस प्रकार की बोली का सब से पवित्र नमूना समझी जाती है। देशीय कहावत के अनुसार सूरदास जी और तुलसी-दास जी ने ही प्रत्येक प्रकार की काव्य रचना को आपस में ही बाँट लिया। दूसरों के लिये कुछ भी नहीं छोड़ा। जितने कवि और लेखक बाद में हुए, सब ने उन्हीं की नक़ल की है। सूर-दास के बहुत से अनुयायी थे। उनमें सब से प्रसिद्ध जयपुर के बिहारीलाल थे जिनकी सतसई अर्थात् ७०० दोहों का संग्रह हिंदी भाषा में अत्यंत सरस और सुंदर है।

पूर्वीय हिंदी अर्थात् तुलसीदास जी की भाषा में कृष्ण साहित्य बिलकुल नहीं है। परंतु बिहार में एक प्राचीन कवि हुए हैं, जिनका नाम विद्यापति था। उन्होंने इस विषय की अनेक छोटी छोटी कविताएँ की हैं और उनको इसमें बड़ी

सफलता भी हुई है। ये १५ वीं शताब्दी के पिछले ५० वर्षों में हुए हैं। चैतन्य सदा उनका उल्लेख किया करते थे और उन्होंने इस प्रकार बंगाल में इस विषय के समस्त काव्य को यह रूप दे दिया था। चंडीदास विद्यापति के मित्र और समकालीन थे। उन्होंने भी बंगला में इसी प्रकार का काव्य किया है। मरहटी भाषा में इस विषय के सब से प्रसिद्ध कवि तुकाराम हुए हैं। ये एक शूद्र जाति में १६०८ ई० में उत्पन्न हुए थे। तामिल भाषा में इस विषय की सर्वोत्तम रचना नालायीर प्रबंधम् है जिसका कुछ भाग १२ वीं सदी में लिखा गया है, परंतु इस भाषा में कृष्ण साहित्य का इतना उद्मासन नहीं है जितना अन्य भाषाओं में है। इसके विपरीत कनारी भाषा में इस विषय के सैकड़ों ग्रंथ हैं। तैलगू में वाम्मरे पोताराज कृत भागवत का अनुवाद प्रधान और श्रेष्ठ ग्रंथ समझा जाता है।

शिव साहित्य—भक्ति साहित्य ने जिसमें शिव और दुर्गापूजा का उल्लेख है, दक्षिणीय हिंदुस्तान और बंगाल में सब से अधिक उन्नति की है। तामिल देश में शिव-पूजा का सब से पहले माणिक वाशगर के तिरु-वाशगम अर्थात् पवित्र शब्दों में उल्लेख है। माणिक वाशगर ११ वीं शताब्दी में हुए हैं। १५ वीं और १६ वीं शताब्दी में बंगाल के देशभाषा साहित्य में कृष्ण का ही विषय था, परंतु बाद में २५० वर्ष तक मुख्य विषय दुर्गा, काली, चंडी रहा। सब से प्राचीन

और सब से महान् लेखक मुकुंदराम चक्रवर्त्ती थे जो कविकंकण अर्थात् कविरत्न के नाम से प्रसिद्ध थे।

१२—मरहट्ठे।

१८ वीं शताब्दी वर्तमान भारत के इतिहास में एक मुख्य काल रही है। इसमें मुग़ल राज्य का अधःपतन हुआ और वृटिश राज्य की नींव स्थिर हुई। इसी काल में हिंदुओं ने भी एक बार मुसलमानों के भूचाल जैसे हमलों को रोकने की कोशिश की और उसमें सफलता भी प्राप्त की। यह काम राजपूतों से अथवा और किसी उत्तरीय भारतीय सैनिक जाति से नहीं हो पाया, किंतु इसे दक्षिणियों ने कर दिखाया, जिन्होंने अपने जातीय वीर नेता शिवाजी के अनुकरण से अपनी एक पृथक् सिपाही जाति बना ली थी।

मरहट्टों का घर—मरहट्टा शब्द किसी धर्म या जाति का नाम नहीं है। आज कल की बोल चाल में मरहटा उस उच्च जाति को कहते हैं जिसमें से शिवाजी ने अपने सेनापति, सैनिक। कर्मचारी और सिपाही चुने थे और जो कभी कभी अपने को क्षत्रियवंश के बतलाते हैं। विशद रूप से विचार करने से इसमें वे भी शामिल हो जाते हैं जिनकी भाषा मरहटी है अथवा जो महाराष्ट्र देश में रहते हैं।

मरहट्टों का केंद्र बंबई से पूर्व दिशा में पश्चिमीय घाट के समीप है। यहाँ पर अनेक पहाड़ी क़िले हैं जो शिवाजी की असली भेदी जगह थे और जिनमें उन्होंने युद्धकौशल प्राप्त

किया था। अनेक पहाड़ हैं जिनमें उनके मजबूत सिपाही पलकर बड़े हुए थे। अनेक दरियायी घाटियाँ हैं जिनमें उन्हें लूट मार के लिये मजबूत घोड़े मिले थे। यहाँ ही पूना है जहाँ वे रहते थे और जो बाद में पेशवाओं की राजधानी हो गई थी और यहाँ ही सितारा है जो उनके उत्तराधिकारियों की राजधानी और वंदीगृह रहा है।

शिवाजी—[सन् १६२७ ई० से १६८० तक]—शिवाजी भोंसला सन् १६२७ ई० में अहमदनगर के राज्य में जूनेर के पहाड़ी किले शिवनेर में पैदा हुए थे और पूना में अपने बाप की जागीर में पले थे। उस समय उनका बाप भी बीजापुर के लिये कर्नाटक में नवीन स्थानों को जीत रहा था। बचपन से ही स्थानीय मुसलमानी घरानों की बरबादी से हिंदू राज्य स्थापित करने की उनकी उत्कट इच्छा थी। घाटों से बहुत से पहाड़ी आदमी इकट्ठा करके उन्होंने एक एक करके अनेक पहाड़ी किले जीत लिए और वे शीघ्र ही बीजापुर की फौज का सामना करने को तैयार हो गए और उसके सरदार अफजलखाँ को उन्होंने पारस्परिक बात चीत में सन् १६५६ ई० में पकड़ लिया। सन् १६६४ ई० में वे गुजरात तक गए और उन्होंने मुसलमानों की राजधानी सूरत को लूट लिया। इससे औरगजेब की क्रोधाग्नि भमक उठी और उसने तत्काल एक सेना शिवाजी के मारने के लिये भेजी। कुछ लड़ाई के बाद सन् १६६६ ई० में शिवाजी कुछ शर्तों पर

१२—मरहट्ठे।

१८ वीं शताब्दी वर्तमान भारत के इतिहास में एक मुख्य काल रही है। इसमें मुग़ल राज्य का अधःपतन हुआ और बृटिश राज्य की नींव स्थिर हुई। इसी काल में हिंदुओं ने भी एक बार मुसलमानों के भूचाल जैसे हमलों को रोकने की कोशिश की और उसमें सफलता भी प्राप्त की। यह काम राजपूतों से अथवा और किसी उत्तरीय भारतीय सैनिक जाति से नहीं हो पाया, किंतु इसे दक्षिणियों ने कर दिखाया, जिन्होंने अपने जातीय वीर नेता शिवाजी के अनुकरण से अपनी एक पृथक् सिपाही जाति बना ली थी।

मरहट्ठों का घर—मरहट्ठा शब्द किसी धर्म या जाति का नाम नहीं है। आज कल की बोल चाल में मरहटा उस उच्च जाति को कहते हैं जिसमें से शिवाजी ने अपने सेनापति, सैनिक। कर्मचारी और सिपाही चुने थे और जो कभी कभी अपने को क्षत्रियवंश के बतलाते हैं। विशद रूप से विचार करने से इसमें वे भी शामिल हो जाते हैं जिनकी भाषा मरहटी है अथवा जो महाराष्ट्र देश में रहते हैं।

मरहट्ठों का केंद्र बंबई से पूर्व दिशा में पश्चिमीय घाट के समीप है। यहाँ पर अनेक पहाड़ी क़िले हैं जो शिवाजी की असली भेदी जगह थे और जिनमें उन्होंने युद्धकौशल प्राप्त

किया था। अनेक पहाड़ हैं जिनमें उनके मज़बूत सिपाही पलकर बड़े हुए थे। अनेक दरियायी घाटियाँ हैं जिनमें उन्हें लूट मार के लिये मज़बूत घोड़े मिले थे। यहाँ ही पूना है जहाँ वे रहते थे और जो बाद में पेशवाओं की राजधानी हो गई थी और यहाँ ही सितारा है जो उनके उत्तराधिकारियों की राजधानी और बंदीगृह रहा है।

शिवाजी—[सन् १६२७ ई० से १६८० तक]—शिवाजी भोंसला सन् १६२७ ई० में अहमदनगर के राज्य में जूनेर के पहाड़ी क़िले शिवनेर में पैदा हुए थे और पूना में अपने बाप की जागीर में पले थे। उस समय उनका बाप भी बीजापुर के लिये कर्नाटक में नवीन स्थानों को जीत रहा था। बचपन से ही स्थानीय मुसलमानी घरानों की बरबादी से हिंदू राज्य स्थापित करने की उनकी उत्कट इच्छा थी। घाटों से बहुत से पहाड़ी आदमी इकट्ठा करके उन्होंने एक एक करके अनेक पहाड़ी क़िले जीत लिए और वे शीघ्र ही बीजापुर की फ़ौज का सामना करने को तैयार हो गए और उसके सरदार अफ़ज़लखाँ को उन्होंने पारस्परिक बात चीत में सन् १६५६ ई० में पकड़ लिया। सन् १६६४ ई० में वे गुजरात तक गए और उन्होंने मुसलमानों की राजधानी सूरत को लूट लिया। इससे औरंगज़ेब की क्रोधाग्नि भभक उठी और उसने तत्काल एक सेना शिवाजी के मारने के लिये भेजी। कुछ लड़ाई के बाद सन् १६६६ ई० में शिवाजी कुछ शर्तों पर

राज़ी हो गए और औरंगज़ेब से मिलने को दिल्ली गए। परंतु वहाँ उनके साथ बहुत बुरा बर्ताव किया गया और उनको क़ैद में भी डाल दिया गया। इस कारण वे किसी तरकीब से निकल भागे और दक्षिण पहुँचे और वहाँ आकर उन्होंने फिर अपनी शक्ति को बढ़ा लिया। सन् १६७४ ई० में उन्होंने राजा की पदवी धारण की और बड़ी धूम धाम के साथ रायगढ़ के क़िले में उनका राज्याभिषेक हुआ। अब उनकी शक्ति इतनी बढ़ गई कि वे एक बड़ी भारी फ़ौज लेकर उन जागीरों को अपने अधिकार में लाने के लिये कर्नाटक में गए जो उनके बाप ने मैसूर में पाई थीं। तंजौर उनके छोटे भाई को मिला। सन् १६८० ई० में शिवाजी का रायगढ़ में देहांत हो गया।

शिवाजी ने केवल राज्य ही स्थापित नहीं किया किंतु एक जाति की नींव डाल दी, जैसा कि उनकी मृत्यु के बाद दक्षिण की घटनाओं से विदित होता है। औरंगज़ेब स्वयं बीजापुर और गोलकुंडा राज्यों को जीतने के लिये और मरहट्ठों को परास्त करने तथा उनकी बढ़ती हुई शक्ति को रोकने के लिये दक्षिण में गया। बीजापुर और गोलकुंडा को तो उसने आसानी से जीत लिया, परंतु मरहट्ठों की शक्ति को दबाने के लिये वह लगातार २० वर्ष तक कोशिश करने पर भी सफल न हुआ।

वर्तमान मरहट्ठा रियासतें—हिंदुस्तान में अब तक

तीन बड़ी मरहट्टा रियासतें मौजूद हैं, परंतु तीनों में एक भी महाराष्ट्र देश में नहीं है। गायकवाड़ बड़ौदा के पास वह प्रदेश है जो उसके पूर्वजों ने गुजरात में जीता था तथा आस पास के राजाओं और जागीरदारों से लिया था। सिंधिया जिसकी ग्वालियर राजधानी है, मध्य भारत में सब से बड़े राजा और बृटिश सेना के आनरेरी जर्नल हैं। होल्कर (इंदौर) का राज्य मालवा में नर्मदा की उपजाऊ घाटी में फैला हुआ है। दक्षिण में महाराज कोल्हापुर शिवाजी के कुलप्रदर्शक प्रतिनिधि हैं। और बहुत से सरदार तथा जागीरदार अपने को मरहट्टा इतिहास में प्रसिद्ध मानते हैं। आगे बढ़कर तंजोर की रियासत जिसको शिवाजी के छोटे भाई ने स्थापित किया था, सन् १७९९ ई० में नष्ट हो गई थी, परंतु मद्रास में संडूर की छोटी सी रियासत अब तक घोरपदे कुल के अधिकार में है। इसको उस कुल के किसी पूर्वज ने सुल्तान बीजापुर की चाकरी में प्राप्त किया था।

मनोरंजन पुस्तकमाला।

अब तक निम्नलिखित पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं—

(१) आदर्श जीवन—लेखक रामचंद्र शुक्ल।
(२) आत्मोद्धार—लेखक रामचंद्र वर्म्मा।
(३) गुरु गोविंदसिंह—लेखक वेणीप्रसाद।
(४) आदर्श हिंदू १ भाग—लेखक मेहता लज्जाराम शर्म्मा।
(५) " २ " "
(६) " ३ " "
(७) राणा जंगबहादुर—लेखक जगन्मोहन वर्म्मा।
(८) भीष्म पितामह—लेखक चतुर्वेदी द्वारकाप्रसाद शर्म्मा
(९) जीवन के आनंद—लेखक गणपत जानकीराम दूबे बी. ए.,।
(१०) भौतिक विज्ञान—लेखक संपूर्णानंद बी.एस-सी. एल. टी.।
(११) लालचीन—लेखक वृजनंदन सहाय।
(१२) कबीरवचनावली—संग्रहकर्त्ता अयोध्यासिंह उपाध्याय।
(१३) महादेव गोविंद रानडे—लेखक रामनारायण मिश्र बी. ए।
(१४) बुद्धदेव—लेखक जगन्मोहन वर्म्मा।
(१५) मितव्यय—लेखक रामचंद्र वर्म्मा।

(१६) सिक्खों का उत्थान और पतन—लेखक नंदकुमार देव शर्मा।

(१७) वीरमणि—लेखक श्यामविहारी मिश्र एम. ए. और शुकदेवविहारी मिश्र बी. ए.

(१८) नेपोलियन बोनापार्ट—लेखक राधामोहन गोकुलजी।

(१६) शासनपद्धति—लेखक प्राणनाथ विद्यालंकार।

(२०) हिंदुस्तान १ खंड—लेखक दयाचंद्र गोयलीय बी. ए।